सनातन-धर्म का
वैज्ञानिक-रहस्य

(भविष्य को उज्ज्वल बनाने तथा प्राचीन धर्म-तत्त्व को
वैज्ञानिक दृष्टिकोण से समझने के लिये
बीसवीं सदी का खोजपूर्ण शोध-ग्रन्थ)

—: लेखक :—

श्री बाबूलाल गुप्त "श्याम"

धर्म तत्त्व अनुसन्धान मंत्री, समाजोत्थान समिति

कार्यालय:— कैलाश भवन जम्बूरखाना, लखनऊ

प्रकाशक

हिन्दी प्रचारक मंडल

श्रीराम मार्ग अमीनाबाद

लखनऊ

❁ समर्पण ❁
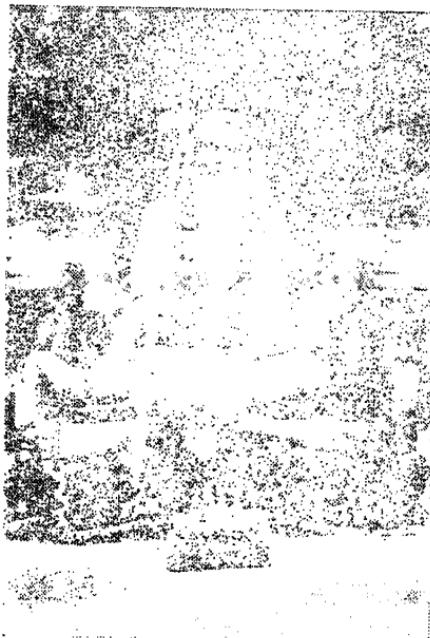
अनन्त श्री विभूषित नैमिषपीठाधीश्वर जगदाचार्य
पूज्य चरण श्री स्वामी नारदानन्द सरस्वती जी महाराज
प्रधान संरक्षक समाजोत्थान समिति
को यह

सनातन धर्म का वैज्ञानिक रहस्य
सादर समर्पित

— बाबूलाल गुप्त "श्याम"

इस ग्रन्थ-लेखक के प्रति
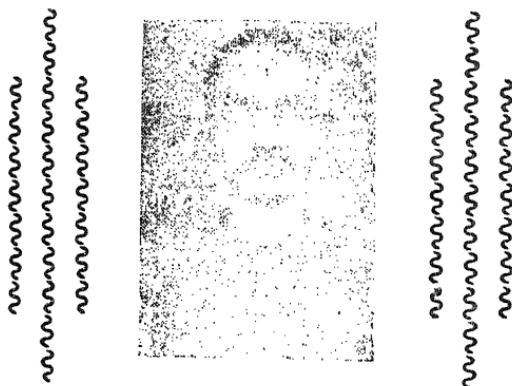
पूज्य श्री जगदाचार्य जी का आशीर्वाद

भक्त बाबूलाल गुप्त 'श्याम' विद्वान्, लेखक, वक्ता, कवि तथा अनेक गुणों से विभूषित पुरुष-रत्न हैं। इनकी वाणी एवं लेखनी से अवश्य ही जन-कल्याण होगा, मुझे इसमें सन्देह नहीं है।

पुस्तक की विशेषता एवं महत्ता इसके नाम से ही स्पष्ट है। धर्म प्रेमी इस पुस्तक के अध्ययन से लाभ उठावें।

संसार में सुख-शान्ति लाने के लिये केवल धर्म-शक्ति ही समर्थ है, शेष किसी और के वश की बात नहीं रह गयी है।

नारदानन्द सरस्वती

विषय-सूची

भूमिका

ॐ श्री हरिः शरणम्, वन्दे गो भू मातरम्।

मैं श्री राम की शरण में हूं, तथा गौ, भूमि सहित समस्त मातृ शक्ति की वन्दना करता हूं।

धर्म का मूल-गोस्वामी तुलसीदास जी के शब्दों में-
दया धर्म का मूल है, पाप मूल अभिमान।

सबसे बड़ा तप—सद्गुरु कबीर साहेब के शब्दों में-

सांच बराबर तप नहीं, झूठ बराबर पाप।

धर्मात्मा कौन है—महात्मा गांधी जी के शब्दों में-

मेरे धर्म की कोई भौगोलिक सीमाएं नहीं हैं, जो मनुष्य स्वयं शुद्ध है, किसी से द्वेष नहीं करता, किसी के द्वारा खोटा लाभ नहीं उठाता और सदा मन को पवित्र रख कर आचरण करता है, वही धर्मात्मा है।

उक्त संत महापुरुषों की भावनाओं से एवं वेद, उपनिषद्, दर्शन, शास्त्र, पुराणादिक धार्मिक ग्रन्थों के अध्ययन से भी यह बात सर्व सिद्ध है कि धर्म की मान्यता देश, काल की भौगोलिक सीमा से परे की वस्तु है। वस्तुतः धर्म की मान्यता नैतिक आचरण एवं कर्त्तव्य पालन में है।

जैसा कि इस ग्रन्थ मेंश्री बाबूलाल गुप्त 'श्याम' जी लिखते हैं कि—

शुभ सत्य सनातन धर्म मेरा जिसमें भ्रम संशय एक नहीं।
यहां ग्रन्थ औ पन्थ अनेकन हैं, पर लक्ष्य है एक अनेक नहीं॥

अब इस शुभ सत्य सनातन धर्म, जिसे श्री'श्याम' जी मेरा कहते हैं इस मेरा शब्द की भावना का परिचय भी उन्हीं के शब्दों में देखिये—तू और नहीं मैं और नहीं।

तू ब्रह्म है मैं हूं जीव बना, तू ईश्वर है मैं अंश तेरा।
तू मायापति मैं मायावश, माया की उपाधी दोनों तरफ।
यदि इसको हटा करके देखो, तू और नहीं मैं और नहीं॥

वेदों में ब्रह्म को सत्, चित् आनन्द स्वरूप कहा गया है। इससे सिद्ध हुआ कि मैं ब्रह्म हूँ। वेदों का भी यही सन्देश है।

यजुर्वेद कहता है :— अहं ब्रह्मास्मि (मैं ब्रह्म हूँ)
सामवेद कहता है :--तत्त्वमसि (वह तू है)
अथर्ववेद कहता है:-अयम् आत्मा ब्रह्म (यह आत्मा ब्रह्म है)
ऋग्वेद कहता है-—प्रज्ञानं ब्रह्म (चेतन आत्मा ब्रह्म है)

गुरु नानक साहेब ने भी कहा है:--सो प्रभु दूर नहीं प्रभु तू है।

अत: अनुभव, श्रुति तथा संत वाणी से यह सिद्ध हुआ कि अपने वास्तविक स्वरूप की दृष्टि से मैं सच्चिदानन्द स्वरूप ब्रह्म हूँ।

इसका अभिप्राय है कि जो देश, काल वस्तु परिच्छेद से रहित सर्वानुभव स्वरूप अपनी आत्मा है वही ब्रह्म है। (सर्वं खल्विदं ब्रह्म) (तत्त्वमसि) यह समस्त (भास मान द्वैत प्रपंच) वास्तव में ब्रह्म ही है। वही ब्रह्म तू है और मैं भी। अत: श्री 'श्याम' जी सरल भाषा में जो यह कहते हैं कि तू और नहीं मैं और नहीं ठीक-शास्त्र सम्मत ही कहते हैं। वास्तव में मेरा और तेरा सम्बोधनात्मक शब्द हैं। मूल में दोनों एक ही हैं।

इसको भी उपनिषद् के तत्त्व ज्ञानोपदेश रूपी मंत्रमें देखिये-

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्ण मुदच्यते।
पूर्णस्य पूर्ण मादाय पूर्ण मेवावशिष्यते॥

अब इस मंत्र की परिचयात्मक भावना श्री 'श्याम' जी के सरल व मधुर शब्दों में निम्न पद में देखिये—

वह पूरण है यह पूरण है, पूरण से पूर्ण निकलता है।
पूरण का पूरण लेकर के, बस शेष भी पूरण रहता है॥

धर्म के आचार-विचार संयम-नियम, व्रत पूजा, उपासनादि अनेक प्रसंगों को सरल गद्य एवं पद्य में वैज्ञानिकता के आधार पर परिचयात्मक तथा बोधात्मक ढंग से प्रस्तुत कर श्री 'श्याम' जी ने स्तुत्य कार्य किया है इसमें सन्देह नहीं।

इस समय धर्म के प्रति उदासीनता आ गई है। सम्भवत: लोगों ने यह समझ रखा है कि धर्म कोई जीवन की उन्नति के लिये आवश्यक नहीं है। किन्तु जब धर्म लुप्त हो जाता है, तब अर्थ और काम में फंसे हुये लोग कुत्तों और बन्दरों के समान वर्णसंकर हो जाते हैं। केवल अर्थ और काम से युक्त जीवन तो पशु जीवन ही है। धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष इन सबकी सिद्धि धर्म के अनुष्ठान से ही होती है। धर्म क्या है? सत्य, न्याय, दया, दान, तप, शौच, तितिक्षा, उचित अनुचित का विचार, मन का नियन्त्रण, इन्द्रियों का संयम, अहिंसा, ब्रह्मचर्य, त्याग, स्वाध्याय, निष्कपटता, सन्तोष समदृष्टि, महापुरुषों की सेवा, धीरे धीरे सांसारिक भोगों की चेष्टा से निवृत्ति, मौन, आत्म-चिन्तन, अन्नादि पदार्थों का प्राणियों में यथा योग्य विभाजन, सभी प्राणियों को आत्म स्वरूप समझना, भगवान् का स्मरण करना, सन्त महात्माओं की सेवा, (प्रणाम, नमस्कार) आदि से बड़ों का आदर श्रद्धा, सम्मान करना यह सभी मनुष्यों के लिये धर्म है। यह चराचर जगत धर्म से ही चलता है, धर्म पर ही आश्रित है। 'यतो धर्मस्ततो जय:'—

जहां धर्म है वहीं जय है, वहीं सफलता है, वहीं सुख है। यही शास्त्र और संतों का सिद्धान्त है।

परन्तु यह युग है विज्ञान का, तर्क का। इस समय कोई भी बात, चाहे जितनी उपयोगी वह क्यों न हो जब तक तर्क और विज्ञान की कसौटी पर खरी न उतरे लोग मानने को तैयार नहीं होते। वेद, धर्म और विज्ञान के मूलाधार हैं। हमारे दुर्भाग्य से वेद की अनेकों शाखाएं लुप्त हो गई हैं। निरुक्त और भाष्य भी अनेक अप्राप्य हो गये। उपलब्ध भाष्यों में वेद मन्त्रों का अर्थ प्राय: आध्यात्मिक दृष्टि से किया हुआ मिलता है, कतिपय लौकिक वस्तुओं का भी वर्णन आ जाता है, वैज्ञानिक रूप से विश्व का निरूपण किसी स्थान पर नहीं मिलता। आध्यात्मिक विषय भी विज्ञान से हीन होकर प्राय: पंगु समान हो गये हैं। आत्मा और परमात्मा के अर्थ भी प्रत्येक मनुष्य भिन्न भिन्न रूप से करने लगा है। फल स्वरूप समाज में दो विभाग हो गये हैं—एक अन्ध विश्वासी, दूसरे जैसा समझ में आया वैसा करने वाले स्वतन्त्र उपासक। इन दोनों में भी पक्षपात तथा रोटी की समस्या ने अनेकों बुराइयां पैदा कर दी हैं। इस प्रकार देश और समाज अपने असली व्यवहारों को नित्य छोड़ता चला जा रहा है। कुछ उसके बिगड़े हुये रूप को पकड़े अवश्य हैं पर उसमें आत्मा शेष है भी या नहीं या उसकी आत्मा क्या है, इसका उन्हें बिलकुल ज्ञान नहीं। ऐसी अवस्था में संसार के सामने पुन: वैदिक सनातन धर्म का वैज्ञानिक चमत्कार अथवा वैज्ञानिक खोज करने की दिशा में श्री 'श्याम' जी द्वारा लिखित यह पुस्तक अपने ढंग का एक प्रयास है।

मेरा विश्वास है कि वेद के समस्त मंत्र वैज्ञानिक अर्थ रखते हैं, यहां तक कि स्तुति मंत्र भी वैज्ञानिक परिभाषाएं ही हैं। वैज्ञानिक रूप से संसार, आत्मा तथा परमात्मा क्या है, इसके विचार करने की आवश्यकता है। विद्वानों को इस दिशा में ध्यान देना चाहिये।

मानव सभ्यता के प्राचीन काल से लेकर पाश्चात्य वैज्ञानिक आविष्कारों के वर्तमान युग तक समस्त विज्ञान का आधार भूमण्डल में केवल चार ही वस्तुयें हैं—जल, अग्नि, वायु और मिट्टी। इन चारों वस्तुओं के ज्ञान को वेद कहते हैं। अर्थात् सामवेद से जल के रूप, रूपान्तर, कार्य तथा गुणों का ज्ञान होता है—इस तरह इसकी खोज व अनुसन्धान करने की आवश्यकता है।

इस प्रकार जल को सामवेद, अग्नि को ऋग्वेद, वायु को यजुर्वेद और मिट्टी को अथर्ववेद कहते हैं।

मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार—यह सब ऐसे आन्तरिक यंत्र हैं जिससे आप सोच समझ और निश्चय कर सकते हैं। अहंकार में पृथ्वी की तन्मात्रा है। चित्त में जल की, बुद्धि में अग्नि की तथा मन में वायु की और हृदय में आकाश की तन्मात्रा है।

यह सूत्र हमेशा याद रखिये—नाम का जप किया जाता है और मंत्र का अनुष्ठान। किसी भी मंत्र के अनुष्ठान में मंत्र का जाप नहीं अपितु मंत्र का ध्यान पूर्वक पुनः पुनः आवृत्ति द्वारा मंत्र विहित स्थिति को धारण किया जाता है।

बिना ऐसा किये न विवेक उत्पन्न होगा और न आप उसके रहस्यपूर्ण अर्थ, वैज्ञानिक चमत्कार को ही समझ पावेंगे।

उदाहरण के लिये—जीव तत्व का स्वरूप क्या है—इसे आप उपनिषद् के इस मन्त्र में देखिये—

बालाग्रशतभागस्य शतधा कल्पितस्य च
भागो जीवः स विज्ञेयः स चानन्त्याय कल्पते ।
(श्वेता० ५।९)

एक बाल के आगे के भाग के खड़े खड़े सौ भाग कीजिये और फिर उन सौ में से एक के फिर सौ खड़े खड़े टुकड़े कीजिये और उनमें से एक टुकड़ा लीजिये तो आप को ध्यान में आवेगा कि उतना सूक्ष्म जीव है ।

यह सब रहस्य मंत्र के अर्थ को ध्यान पूर्वक विचार करने से ज्ञात होंगे न कि किसी मंत्र के तोता रटंत जाप से ।

समाजोत्थान—समिति (कार्यालय) कैलाश भवन जम्बूरखाना लखनऊ, समाज की उन्नति के सभी क्षेत्रों में कार्य करने के लिये कटिबद्ध है । पर इसके लिये व्यापक साधनों की आवश्यकता है,जो सबके सहयोग से ही सम्भव है । अतः इसमें रुचि रखने वालों से मेरा निवेदन है कि वे समिति से भी अपना सम्पर्क स्थापित करें ।

इस समय धर्म-कर्त्तव्य-पालन की आस्था लोगों में डगमगा रही है, भोगवासना, उच्छृंखलता की प्रवृत्ति बढ़ रही है । ऐसी दशा में भगवान् से यही प्रार्थना है कि—हमारे देश भारत में पुनः वेदादि शास्त्रों का विज्ञान बढ़े और हम अपने पूर्वजों के ज्ञान का लाभ उठा सकें ।

रामदास मिश्र 'विजय'
अध्यक्ष समाजोत्थान समिति
कार्यालयः—कैलाश भवन जम्बूरखाना, लखनऊ

गुरुपूर्णिमा
जुलाई १९६६

✻ प्राक्कथन ✻

आजकल का युग वैज्ञानिक और तार्किक है। किसी बात को कोई ऐसे ही सुन कर श्रद्धा से मानने को तैयार नहीं। वह प्रत्येक धार्मिक बात पर 'क्यों और कैसे' का प्रश्न करता है और तब उसे तर्क बुद्धि और विज्ञान की कसौटी पर कस कर मानने को तैयार होता है। इसी दृष्टिकोण को लेकर बहुत दिन हुये सनातन धर्म के विषय में कुछ लिखने की इच्छा हुई जिसके फलस्वरूप 'सनातनधर्म का वैज्ञानिक रहस्य' शीर्षक से एक लेखमाला लिखी जो सं० २००३ में काशी से मासिक 'सन्मार्ग' में प्रकाशित हुई।

इसके पश्चात् कुछ इष्ट मित्रों का आग्रह हुआ कि इसे यदि पुस्तकाकार छपवा दिया जाय तो जनता को बहुत लाभ हो सकता है। बात पड़ी रही, समय आने पर हिन्दी प्रचारक मण्डल के अध्यक्ष श्री रामदास मिश्र 'विजय' का ध्यान इस ओर आकर्षित हुआ और उनके आग्रह से अब यह पुस्तक के रूप में आपके समक्ष प्रस्तुत है।

सनातन धर्म की प्रत्येक बात सारगर्भित, वैज्ञानिक, प्राकृतिक नियमों से सम्बद्ध तथा ऋषियों की अनुभूत है। देश, काल, परिस्थिति के अनुसार या किसी अन्य कारणवश कोई व्यक्ति यदि इस पर पूर्ण रूप से न चल सके तो जितना भी हो सके चले, उस पर भी उसे लाभ अवश्य होगा।

वैसे तो सनातन धर्म के विषय पर बहुत से ग्रन्थ हैं परन्तु यह पुस्तक जन साधारण के लिये लिखी गई है जिससे कि वे इसके रहस्य को पढ़ें, समझें, विचारें तथा अपने जीवन में उतारें, जो लोग धार्मिक हैं वे और भी अधिक धर्मनिष्ठ बनें—यही इस पुस्तक के लिखने का उद्देश्य है, विद्वानों के चरणों में तो मेरा शत शत नमन है।

सनातनधर्म का विषय तो बहुत ही विस्तृत तथा गम्भीर है। इस पुस्तक में भी बहुत से विषय स्थानाभाव के कारण नहीं आ सके हैं, बहुत से विषयों को तो संक्षेप में ही लिखना पड़ा है। इस पुस्तक में उक्त लेखमाला की आधारभूत सामग्री में संशोधन, परिवर्द्धन करने के साथ साथ बहुत सी सामग्री का समावेश नयी साज सज्जा के साथ किया गया है। इसके अतिरिक्त म० म० श्री गिरधर शर्मा चतुर्वेदी जी की प्रवचन माला,'क्यों', 'सनातन-धर्मालोक'तथा धर्म विज्ञान आदि पुस्तकों से भी सहायता ली गई है। एतदर्थ मैं इन पुस्तकों के लेखकों का तथा और भी जिन जिन से सहायता मिली है उन सबका बहुत ही आभारी तथा कृतज्ञ हूँ। जगद्गुरु शंकराचार्य श्री गोवर्द्धन पीठाधीश्वर, जगदाचार्य श्री नैमिष पीठाधीश्वर स्वामी नारदानन्द सरस्वती जी तथा श्रीरामानुजाचार्य पीठाधीश्वर स्वामी राघवाचार्य जी महाराज के उपदेशों से भी प्रेरणा मिली है। इसके अतिरिक्ति श्री पं० दीनानाथ जी शास्त्री सारस्वत एवं श्री श्रीराम शर्मा आचार्य जी से भी पुस्तक के प्रति शुभाकांक्षा तथा प्रेरणा प्राप्त हुई है।

इस पुस्तक में अपना कुछ नहीं है, जो कुछ है वह सनातन ऋषियों, मुनियों तथा सन्त, महात्माओं और विद्वानों का ही प्रसाद है जो मेरे द्वारा परोस दिया गया है। हां जो कुछ त्रुटियां हैं वे मेरी हैं, आशा है विद्वज्जन उन्हें क्षमा करेंगे तथा सुझाव देंगे। यह कार्य जो कुछ हो पाया है वह सब श्री गुरुदेव की कृपा से ही हुआ है।

अतः इन सब पूज्य आचार्यों तथा विद्वानों का मैं आभारी हूं तथा उनके चरणों में श्रद्धा सहित प्रणाम करता हूं।

—बाबूलाल गुप्त "श्याम"

ॐ

सनातनधर्म का वैज्ञानिकरहस्य

प्रार्थना

शिव, राम तुम्हीं घनश्याम तुम्हीं, तुम्हीं व्यापक ब्रह्म अपार तुम्हीं हो।
जागृत, स्वप्न, सुषुप्ति, तुरीय, अकार, उकार, मकार तुम्हीं हो।
दर्शन दृश्य, तुम्हीं हो प्रभो ! निराकार तुम्हीं साकार तुम्हीं हो।
'श्याम' के जीवन प्राण तुम्हीं भवसागर की पतवार तुम्हीं हो ॥

प्रभु ज्योतिर्मय जगतीतल में अपना वह दिव्य प्रकाश भरो।
भव ताप मिटै तन पाप कटै यम पाश के नाश की आश भरो।
दृढ़ धर्म पै 'श्याम' रहैं नित ही पद पंकज में विश्वास भरो।
तुम्हें तत्त्व से जान के ध्यान करैं उर अन्तर में अभिलाष भरो ॥

भगवान ये जान नहीं पड़ता किस भाँति है आपकी माया प्रभो।
सब जानत हू न प्रपंच छुटै नर है जग में भरमाया प्रभो।
मन है न नियन्त्रण में रहता अभिमान महान समाया प्रभो।
अब आप ही 'श्याम' दया करिये यह दास है द्वार पै आया प्रभो ॥

करुणा निधि धाम कहाँ वह है जहाँ जाकर दीन पुकारा करैं।
अपने उर की व्यथा को कहि कै दुख का कुछ भार उतारा करैं।
प्रभु के बिना कौन है या जग में जिसका हम 'श्याम' सहारा करैं।
दया दृष्टि हो दास पै नाथ कभी इस आस से बाट निहारा करैं ॥

श्री गुरु-वन्दना

गुरुदेव हे विष्णु विरंचि महेश, हो पूरण ब्रह्म समान सदा ।
सुख शान्ति प्रदायक ज्ञान स्वरूप दया करुणा के निधान सदा ।
जग में रहते जग से परे हो, गुणातीत भी हो गुणखान सदा ।
शरणागत 'श्याम' प्रणाम तुम्हें तुम भक्त के हो भगवान सदा ॥

सत चेतन आनंद राशि प्रभो ! गुरुदेव जी ऐसी दया करिये ।
रहे धारणा, ध्यान, समाधि में वृत्ति वो भावना मानस में भरिये ।
हृदै ज्ञान की ज्योति से भासित हो अज्ञान की 'श्याम' निशा हरिये ।
चरणाम्बुज में दृढ़ आश्रय दो जिससे भवसागर से तरिये ॥

गुरुदेव ने कीन्ही महान कृपा जिन आतम तत्त्वको लक्ष्य करायो ।
ढूंढ़त तीर्थ अनेकन में सोई चेतन को घट में दरसायो ।
पूजते मन्दिर में जिसको, वही अन्तर मांहि स्वरूप लखायो ।
आतम में परमातम पाइके, आप ही आपमें 'श्याम' समायो ॥

तनकी इस तन्त्रिका की हर तान के एक तुम्हीं मृदुगान बने ।
भवसिन्धु से पार उतारने को गुरुदेव मेरे जलयान बने ।
इस जीवन के तुम जीवन हो, इन प्रानन के तुम प्रान बने ।
प्रिय प्रेम के बन्धन में बंधि कै तुम भक्त के हो भगवान बने ॥

ॐ

हमारा भारत

हमारा भारत देश प्राचीन काल से ही गौरवपूर्ण तथा सबका सिरमौर रहा है, कारण यह है कि यहाँ पर धर्म की प्रधानता रही है और धर्माचरण का यथार्थ पालन तथा उसका यथार्थ ज्ञान भी यहाँ पूर्णरूपेण रहा है। यहाँ के सम्पूर्ण कर्म आध्यात्मिक तथा धार्मिक नींव पर ही किये जाते रहे हैं। यहाँ के लोग उसका रहस्य सहित गम्भीर विवेचन तथा विशाल महत्व भली भाँति समझते थे और फिर उस धर्म को ही मूल कारण निश्चय करके तदनुसार आचरण करते थे। उन लोगों ने उसके महत्त्वपूर्ण वैज्ञानिक विवेचनयुक्त रहस्य को सूक्ष्म दृष्टि से अपनी कसौटी पर कसकर निश्चय किया था कि इसके अतिरिक्त और कोई कल्याणकारी तथा ठोस मार्ग नहीं है। इसी कारण से अर्थात् उसकी नींव आध्यात्मिक तथा धार्मिक होने के कारण उसकी सदा उन्नति रही। आजकल हम लोगों ने अपने उस प्राचीन मार्ग को भुला दिया तथा उसके रहस्य से अनभिज्ञ होने के कारण उसे केवल कल्पित क्रिया मात्र समझ लिया और उसे ढोंग शब्द से सम्बोधित करना प्रारम्भ कर दिया है। हम लोग मनोमुखी तथा मनस्तन्त्र होकर, अपने मार्ग को भूलकर इधर-उधर भटकने लगे तथा अपने अमूल्य हीरे को खोकर दूसरों के काँच पर, जो ऊपर से ही चमकता था रीझ उठे और उसे ग्रहण करने को लालायित हो उठे। अन्त में "इतो नष्टः ततो भ्रष्टः" के अनुसार स्वयं पथभ्रष्ट भी हो गये

तथा अन्य लोगों का अनुसरण करके समय को व्यर्थ ही नष्ट किया, मन, बुद्धि को दूषित संस्कारों से संस्कृत कर दिया और दुःख ही उठाया, फिर भी परिणाम कुछ न मिला। फलतः अपने धर्म से भी आस्था धीरे धीरे कम हो गयी और अब हम स्वयं आचार, शक्ति, बल, बुद्धि तथा विचार से हीन हो गये. हम भारतीयों ने अपनी धार्मिक, आध्यात्मिक शिक्षा को त्याग दिया, जो अमूल्य निधि थी, उसको ठुकरा दिया, अपनी गौरवशालिनी, आदरणीया, आदर्श तथा पूज्य विद्यामाता का तिरस्कार कर दिया और आधुनिक विषय वासना सुसज्जित, मनोभ्रष्टकारिणी, ऊपर से ही आपात-रमणीय, कुलटा पाश्चात्य सभ्यता को प्रियतमा के रूप में वरण कर लिया जिसने हमारा ही बल वीर्य हरण करके हमें आज ओज, तेज, ज्ञान एवं बल से हीन बना दिया है। हमने अपने आप ही अपने पैरों में कुल्हाड़ी मार ली है।

उसी सर्वगुरु भारत की, जिसके ज्ञान, धर्म, महत्त्व एवं दूर-दर्शिता की प्रशंसा पाश्चात्य तथा अन्य देश वाले भी करते और उसके गुण एवं ज्ञान को ग्रहण करते हैं और हम उसकी अवहेलना करते हैं; इससे बढ़कर अज्ञान और क्या हो सकता है? यहाँ की भित्ति धार्मिक नींव पर खड़ी होने के कारण ही आज तक अवशिष्ट रह सकी है। परन्तु आज हम लोग धर्म का नाममात्र सुनकर ही उसकी उपेक्षा तथा घृणा करने लगे हैं। धर्म क्या वस्तु है, किसे कहते हैं, इस पर विचार करना, आचरण करना तो दूर रहा, सुनने में भी श्रद्धा नहीं रही है। इस ग्रन्थ में इस विषय पर कुछ प्रकाश डाला जायगा जिसके अध्ययन से धर्म की वास्तविकता का कुछ परिचय अवश्य हो जायगा, ऐसा विश्वास है।

सनातन-धर्म

शुभ सत्य सनातन धर्म मेरा, जिसमें भ्रम संशय एक नहीं।
यहाँ ग्रन्थ औ पंथ अनेकन हैं, पर लक्ष्य है एक अनेक नहीं।
अधिकार के भेद से साधना है, हठवादिता की कुछ टेक नहीं।
अनुभूत है वैदिक ज्ञान यहाँ, कुछ 'श्याम' यहाँ अविवेक नहीं॥

बहु शास्त्र औ वेद पुराण यहाँ तथा ज्ञान अगाध का पार नहीं है।
लक्ष्य औ ध्येय है एक तथा पर साधना एक प्रकार नहीं है।
ब्रह्म की दृष्टि चराचर में, पै समान सदा व्यवहार नहीं है।
सार न गीता व मानस के सम, नाम सा 'श्याम' अधार नहीं है॥

धर्म का स्वरूप

'वैशेषिक दर्शन' में धर्म की परिभाषा इस प्रकार की गयी है—

'यतोऽभ्युदय निःश्रेयस सिद्धिः स धर्मः' (१/२)

अर्थात् जिससे इस लोक और परलोक में उन्नति तथा अन्त में परमकल्याण रूप मोक्ष प्राप्त हो, वह 'धर्म' है। 'महाभारत में भी कहा गया है कि जिस ईश्वरीय शक्ति के द्वारा प्रजा सहित सम्पूर्ण सृष्टि की क्रिया धारण की जा रही है, उसका नाम धर्म है—

'धारणाद्धर्ममित्याहुर्धर्मो धारयते प्रजाः।
यत्स्याद्धारणसंयुक्तं स धर्मं इति निश्चयः।' (कर्णपर्व)

'योगदर्शन' के भाष्य में भगवान् श्रीवेदव्यास जी ने लिखा है—

योग्यतावच्छिन्ना धर्मिणः शक्तिरेव धर्मः ।'

अर्थात् धर्म की योग्यतायुक्त शक्ति ही धर्म है । जिस पदार्थ में जिस शक्ति तथा जिस योग्यता के न रहने से उसकी सत्ता ही नहीं रहती वह शक्ति धर्म कही जाती है । जैसे अग्नि का उष्णत्व तथा जल का द्रवत्व इत्यादि । अर्थात् यदि अग्नि में उष्णता न हो, तो उसे अग्नि कैसे कहेंगे और उसमें कौन सी शक्ति रह जायगी ? 'धर्म' शब्द का अर्थ ही है कि जो धारण करे अथवा जिसके द्वारा यह विश्व धारण किया जा सके, क्योंकि धर्म 'धृ' धातु से बना है, जिसका अर्थ है :—

'धारयतीति धर्मः' अथवा 'येनैतद्धार्यते स धर्मः ।'

संसार की स्थिति का मूल, धर्म ही है

धर्म वास्तव में संसार की स्थिति का मूल है, धर्म मूल पर ही सकल संसार वृक्ष स्थित है । धर्म से पाप नष्ट होता है तथा अन्य लोग धर्मात्मा पुरुष का अनुसरण करके कल्याण को प्राप्त होते हैं । 'नारायणोपनिषद' (७६) में कहा है—

'धर्मो बिश्वस्य जगतः प्रतिष्ठा, लोके धर्मिष्ठं प्रजा उपसर्पन्ति, धर्मेण पापमपनुदति, धर्मे सर्वं प्रतिष्ठितं, तस्माद्धर्मं परमं वदन्ति।'

और भी—

या विभर्ति जगत्सर्वमीश्वरेच्छा ह्यलौकिकी ।
सैव धर्मो हि 'सुभगे नेह कश्चन संशयः ।।'

धर्म प्राणिमात्र के लिये हितकारी है

हमारे यहाँ ऋषियों ने धर्म की व्यापकता तथा उदारता के विषय में तो यहाँ तक कह दिया है कि—

धर्मं यो बाधते धर्मो न स धर्मः कुधर्मकः।
अविरोधात्तु यो धर्मः स धर्मः सत्यविक्रम ॥
(महाभारत वनपर्व १३१/११)

अर्थात् हे सत्य विक्रम ! जो धर्म दूसरे का बाधक हो वह धर्म नहीं कुधर्म है। धर्म तो वही है जो किसी दूसरे धर्म का विरोधी न हो।

धर्म से क्या नहीं प्राप्त हो सकता ? महाभारत स्वर्गारोहण पर्व में महर्षि श्री वेद व्यास जी ने बड़े जोरदार शब्दों में अपनी अन्तपुकार जनता के हित में की है वे कहते हैं कि 'मैं दोनों हाथ ऊपर उठा कर पुकार-पुकार कर कह रहा हूँ, पर मेरी बात कोई नहीं सुनता। धर्म से केवल मोक्ष ही नहीं अर्थ और काम की भी सिद्धि होती है, फिर भी लोग उसका सेवन क्यों नहीं करते ?

ऊर्ध्व बाहुर्विरौम्येष न च कश्चिच्छृणोति मे।
धर्मादर्थश्च कामश्च स किमर्थं न सेव्यते ॥
(महा० स्वर्गा० ५/६२)

इसके बाद आगे वे कहते हैं कि—

न जातु कामान्न भयान्न लोभाद्,
धर्मं त्यजेज्जीवितस्यापि हेतोः।

नित्यो धर्मः सुख दुःखे त्वनित्ये,
जीवो नित्यो हेतुरस्य त्वनित्यः ।
(महा० स्वर्गा० ५/६३)

अर्थात् कामना से, भय से, लोभ से अथवा जीवन के लिये भी धर्म का त्याग न करे । धर्म ही नित्य है, सुख दुःख तो अनित्य हैं । इसी प्रकार जीवात्मा नित्य हैं और उसके बन्धन का हेतु अनित्य है । (अतः अनित्य के लिये नित्य का परित्याग कदापि न करे ।)

इसके अतिरिक्त जो व्यक्ति धर्म का पालन करता है तो धर्म ही उसकी रक्षा करता है तथा नष्ट हुआ धर्म ही उसे मारता है अतः धर्म का पालन करना चाहिये ।

'धर्म एव हतो हन्ति धर्मो रक्षति रक्षितः ।'
(मनु० ८/१५)

हमारे यहाँ पुराने लोगों ने धर्म के लिये जो आदर्श उदाहरण उपस्थित किये हैं उनकी गौरव गाथा आज भी गाई जाती है ।

शिवि दधीच हरिचन्द नरेसा ।
सहे धरम हित कठिन कलेसा ।।
रन्तिदेव बलि भूप सुजाना ।
धरमु धरेउ सहि संकट नाना ।।
(श्रीरामचरित० अयो० ९४/३-४)

भगवान् राम तो साक्षात् धर्म मूर्ति ही थे—

'रामोविग्रहवान धर्मः' ।

इससे धर्म की महत्ता स्पष्ट ही है ।

इससे यह स्पष्ट है कि हमारे यहाँ धर्म की परिभाषा संकीर्ण तथा एकदेशीय नहीं, अपितु प्राणिमात्र के लिए हितकारी और व्यापक है। जिससे सब का कल्याण हो चाहे वह किसी भी देश, जाति का मनुष्य क्यों न हो, जिससे सब का व्यापक हित हो, वही धर्म है। जिससे इस लोक में शांति व सुख मिले तथा परलोक में भी शांति तथा सुख की प्राप्ति हो और अन्त में सर्व दुःख की आत्यन्तिक निवृति रूप निःश्रेयस अर्थात् मोक्ष की भी प्राप्ति हो, उसे हमारे यहाँ धर्म कहा गया है और वह सर्वहितकारी तथा सनातन है। इस सृष्टि क्रिया को जिस नियम ने धारण कर रखा है, जिस नियम से सृष्टि का विकास प्रकृतिमाता करती है तथा जिस क्रिया से प्राणी क्रमशः उन्नति के सर्वोच्च शिखर पर पहुँच सकता है तथा जिससे उसकी आध्यात्मिक, आधिदैविक तथा आधिभौतिक उन्नति हो सकती है, चाहे वह कठिन साध्य ही क्यों न हो, किन्तु वही धर्म है।

हमारे प्राचीन ऋषियों ने इस पर गम्भीर विचार द्वारा ऊहापोह करके तपस्यामय जीवन-यापन करके, शुद्ध व्यवसायात्मिका बुद्धि द्वारा स्थितप्रज्ञ होकर तथा उसका स्वयं अनुभव करके और दूरदर्शिता पूर्ण ज्ञान नेत्रों से उसकी अचल प्रतिष्टा का निश्चय करके तब अन्य लोगों को उसका उपदेश किया, जिसके आचरण से उनके अनुयायी अक्षय ज्ञान, अक्षय बल, बुद्धि, तेज, ओज और अक्षय शांत्ति को प्राप्त करके स्वयं भी कृतकृत्य हुए और भारत का भी गौरव बढ़ाया। उनके वंशधरों ने उस सदाचार की रक्षा की। हम वास्तव में उन ऋषियों के महान् ऋणी हैं, जिन्होंने हम लोगों के कल्याण के लिए वैदिक ज्ञान को सरल रूप से स्मरण करके

स्मृति आदि शास्त्रों के रूप में उपस्थित किया, जो आज कल उपलब्ध है और जिसका अनुसरण करके हम सदाचार सीखकर, ज्ञान प्राप्त करके अपना कल्याण कर सकते हैं। चाहे हम अपनी क्षुद्र बुद्धि के कारण उन पर विश्वास न करें, उन्हें न मानें, पर फिर भी उनकी प्रत्येक क्रिया, उनका प्रत्येक उपदेश वैज्ञानिक कसौटी पर कसा हुआ है और ध्रुव सत्य है। प्रत्येक सदाचार में तथा शिक्षा में उनकी दूरदर्शिता लक्षित होती है। हम उन त्रिकाल-दर्शी मनु आदि स्मृतिशास्त्र-निर्माता ऋषियों के सूक्ष्म विज्ञान मय, कल्याण कारी, धर्मपूत नियमों को अपनी विषय वासनासक्त मलिन बुद्धि के कुतर्क से कभी भी पूर्णतया नहीं समझ सकते। हाँ, उन का आचरण करके शनै. शनैः अवश्य ही उसके रहस्य को जान सकते हैं और फिर आचरण करने से ही उसकी चमत्कारिता, अनुभव पूर्ण महत्ता समझ में आ जायगी।

यह धारणा भ्रांतिपूर्ण है कि लोगों ने कल्पित आचार गढ़कर अपनी प्रतिष्ठा के लिए धर्म को लोगों पर लाद दिया है। मनु ने तो अपनी स्मृति में धर्म की कसौटी के लिए स्पष्ट ही सब का निर्णय दिया है। धर्म के लक्षण में वे कहते हैं—

धर्म का लक्षण

श्रुतिः स्मृतिः सदाचारः स्वस्य च प्रियमात्मनः।
एतच्चतुर्विधं प्राहुः साक्षाद्धर्मस्य लक्षणम्।' (२/१२)

अर्थात् जो श्रुति (वेद) में कहा गया हो तथा स्मृतिकार

ऋषियों ने भी जिसे कहा हो और लोगों ने जिसका अनुसरण भी किया हो तथा जो समझने से आत्मा को कल्याणकारी एवं प्रिय भी प्रतीत होता हो, ऐसा यह चार प्रकार का धर्म का साक्षात् लक्षण है। इस तरह हम इन लक्षणों की कसौटी पर कसकर अपना आचार विचार निर्धारित कर सकते हैं। श्रुति स्मृति की परिभाषा इस प्रकार की गयी है—

'श्रुतिस्तु वेदो विज्ञेयो धर्मशास्त्रस्तु वै स्मृतिः।
ते सर्वार्थेष्वमीमाँस्ये ताभ्यां धर्मो हि निर्वभौ ॥' (मनु २/१०)

अर्थात् वेदों को श्रुति तथा धर्मशास्त्र को स्मृति जानना चाहिए। ये दोनों (श्रुति और स्मृति) सब विषयों में तर्कनारहित हैं, क्योंकि इनसे ही धर्म की उत्पत्ति है। एवं च—

'धृतिः क्षमा दमोऽस्तेयं शौचमिन्द्रिय निग्रहः।
धी विद्या सत्यमक्रोधो दशकं धर्मलक्षणम्।' (मनु० ६/६२)

अर्थात् धृति (धैर्य), क्षमा, इन्द्रियदमन, चोरी का अभाव, शौच (पवित्रता), इन्द्रियनिग्रह, बुद्धि, विद्या, सत्य और क्रोध न होना. ये धर्म के दश लक्षण हैं। इस प्रकार लक्षण जानकर उसकी महत्ता समझ लेनी चाहिए।

संक्षेप में बात यह है कि हमारा धर्म आहार, विचार, आचार तथा व्यवहार इन चार वस्तुओं पर निर्भर है, क्योंकि जैसा आहार होगा, वैसा मन होगा, जैसे मन, बुद्धि होंगे, वैसे ही विचार होंगे और जैसे विचार होंगे, वैसा ही आचरण होगा और जैसा आचरण होगा, वैसा ही दूसरों के साथ व्यवहार होगा। यदि उक्त चारों बाते नियम पूर्वक यथारीति मनुष्य में होती हैं, तो फिर अशाँति तथा दुःख का कोई कारण दृष्टिगोचर नहीं हो सकता।

आहार से धर्म का सम्बन्ध

हमें अब क्रम से पहले आहार पर विचार करना है।

श्रुति में आया है—

'यद्वै मनसा ध्यायति तद्वाचा वदति, तत् कर्मणा करोति'

अर्थात् मन से जैसा ध्यान, विचार उत्पन्न होता है, वैसा ही वाणी बोलती है तथा वैसा ही कर्म किया जाता है। इससे मन के ऊपर ही सारा विचार एवं कर्म निर्भर है। 'छान्दोग्योपनिषद्' में कहा है—

'आहारशुद्धौ सत्वशुद्धिः सत्वशुद्धौ ध्रुवा स्मृतिः।
स्मृतिलम्भे सर्वग्रन्थीनां विप्रमोक्षः॥' (७/२६/२)

अर्थात् आहार की शुद्धि होने से अन्तःकरण की शुद्धि होती है और अन्तःकरण के शुद्ध होने से निश्चल स्मृति प्राप्त होती है और स्मृति शुद्धि हो जाने पर सर्वग्रन्थियों का अर्थात् क्लेशमय बन्धनों का नाश हो जाता है। और भी कहा है—

'आहारशुद्धो चित्तस्य बिशुद्धिर्भवति स्वतः।'
(पाशुपतब्रह्मोप० ३६)

आहार के शुद्ध होने से चित्त की शुद्धि स्वयं हो जाती है। इसका कारण यह है कि मन अन्न से, प्राण जल से और वाणी तेज से बनती है—

अन्नमयं हि सौम्य मन आपोमयः प्राणस्तेजोमयी वागिति।'
(छान्दोग्य उप० ६/५/४)

इसका विज्ञान यह है कि खाये हुए अन्न के तीन भाग हो जाते हैं; जो अत्यन्त स्थूल भाग है, वह मल, मध्यम भाग माँस और अत्यन्त सूक्ष्म भाग मन हो जाता है—

अन्नमशितं त्रेधा विधीयते, तस्य यः स्थविष्ठो धातुस्तत्पुरीषं भवति, यो मध्यमस्तन्मांसं, योऽणिष्ठस्तन्मनः ।'

(छान्दोग्य उप० ६/५/१)

इसी प्रकार पिया हुआ जल भी तीन प्रकार का हो जाता है, उसका अत्यन्त स्थूल भाग मूत्र, मध्यम भाग रक्त तथा अत्यन्त सूक्ष्म भाग प्राण बनता है—

'आपः पीतास्त्रेधा विधीयन्ते, तासाँ यः स्थविष्ठो धातुस्तन्मूत्रं भवति, यो मध्यमस्तल्लोहितं, योऽणिष्ठः स प्राणः'

(छान्दोग्य उप० ६/५/२)

इसी प्रकार खाया हुआ घी आदि तैजस पदार्थ भी तीन प्रकार का हो जाता है—स्थूल भाग अस्थि, मध्यम भाग मज्जा और सूक्ष्म भाग वाणी हो जाता है—

'तेजोऽशितं त्रेधा विधीयते, तस्य यः स्थविष्ठो धातुस्तदस्थि भवति, यो मध्यमः स मज्जा, योऽणिष्ठः सा वाक्'

(छान्दोग्य उप० ६/५/३)

अतः यह सिद्ध हुआ कि जैसा अन्न होगा, वैसा मन होगा और वैसे ही विचार होंगे। इसीलिए शास्त्रकारों ने शुद्ध सात्विक आहार करने की शिक्षा दी है।

जैसा अन्न वैसा मन

एक स्थान पर और भी कहा गया है कि—

यादृशी भक्षयेच्चान्नं बुद्धिर्भवति तादृशी ।
दीपस्तिमिर मश्नाति कज्जलं च प्रसूयते ।।

अर्थात् जिस प्रकार का अन्न खाया जाता है उसी प्रकार की बुद्धि भी बनती है जिस प्रकार दीपक अन्धकार को खाता है तथा काले काजल को उत्पन्न करता है।

यदि आहार सात्विक होगा, तो मन भी सात्विक होगा और जब मन सात्विक होगा, तब विचार भी सात्विक होंगे और क्रमश: फिर क्रिया भी सात्विक होगी। सात्विक भोजन से शरीर स्वस्थ एवं हल्का रहता है, चित्त प्रसन्न रहता है। आयु, बुद्धि, बल, आरोग्य, सुख और प्रीति को बढ़ाने वाले एवं रसयुक्त तथा चिकने और स्थिर रहने वाले पदार्थ सात्विक पुरुषों को प्रिय होते हैं। अधिक कटु, उष्ण, तीक्ष्ण एवं रूक्ष आहार राजस कहा गया है। बासी, रसहीन, दुर्गन्धियुक्त, जूठा और अपवित्र आहार तामस कहा गया है। श्रीमद् भगवद्गीता में भगवान श्रीकृष्ण कहते हैं कि—

आयु: सत्त्व बलारोग्य सुखप्रीति विवर्धना: ।
रस्या: स्निग्धा: स्थिरा हृद्या आहारा: सात्विक प्रिया: ।।
कट्वम्ल लवणात्युष्ण तीष्ण रूक्ष विदाहिन: ।
आहारा राजसस्येष्टा दु:ख शोकामय प्रदा: ।।

यातयामं गतरसं पूति पर्युषितं च यत् ।
उच्छिष्ट मपि चामेध्यं भोजनं तामस प्रियम् ॥
(श्रीमद्‌भगवद् गीता १७/८-१०)

राजसी तथा तामसी वस्तु—जैसे लहसुन, प्याज, माँस, मदिरा आदि का सेवन करने से [माँस आदि में] हिंसा भी होती है तथा अन्य उक्त पदार्थों से आलस्य एवं जड़ता उत्पन्न होती है, शरीर भारी हो जाता है, पशुभाव और कामोत्तेजना, चित्त-चांचल्य एवं ब्रह्मचर्य का नाश होना यह सब महान् दुर्गुण उत्पन्न हो जाते हैं, अपवित्रता तो अपना अधिकार कर ही लेती है। शरीर, मन और बुद्धि आदि सब मलिनता को प्राप्त हो जाते हैं, बुद्धि तामसी हो जाती है। इसीलिए ऐसे आहार का स्पष्ट निषेध किया गया है—

'लशुनं गृञ्जनं चैव पलाण्डुँ कवकानि च ।
अभक्ष्याणि द्विजातीनां अमेध्यप्रभवानि च ॥'
(मनु० ५/५) ।

अर्थात् लहसुन, शलजम, प्याज तथा कुकुरमुत्ता आदि जो पदार्थ अशुद्ध स्थान में उत्पन्न होते हैं, वे द्विजातियों के लिए अभक्ष्य हैं।

उच्छिष्ट-भोजन का निषेध

परस्पर जूठा—एक दूसरे का उच्छिष्ट—अन्न खाने में भी बड़ा भारी दोष है। इससे अपनी ही बड़ी हानि होती है, क्योंकि इस प्रकार, एक के कीटाणु तथा रोग दूसरे में बहुत शीघ्र संक्रान्त हो जाते हैं। ग्लानि तथा अपवित्रता तो होती ही है। इसीलिए—

नोच्छिष्टं कस्यचिद्दद्यान्नाद्याच्चैव तथान्तरा' (मनु० २/५६)

इस वाक्य से उसका निषेध किया गया है ।

आहार पर हमारे शास्त्रकारो ने बहुत जोर दिया है कि इसमें बड़े विचार की आवश्यकता है और सब में वैज्ञानिक रहस्य भरा है । आहार और धर्म का बड़ा निकट सम्पर्क है । कहा गया है कि इस शरीररूपी हवनकुन्ड में हाथरूपी स्रुवा के द्वारा भगवान्‌रूपी वैश्वानर अग्नि में अन्नरूप शाकल्य का हवन किया जाता है, अतः आहार क्रिया एक प्रकार का यज्ञ है । शरीर रक्षा तथा आत्मतृप्ति के लिए ही भोजन का विधान है । स्वाद दृष्टि से रसना-इन्द्रिय से स्वादरूपी विषयभोग करना लक्ष्य नहीं है । इसीलिए आहार यज्ञ के नियम तथा विधान कहे गये हैं, जिनसे अपना ही कल्याण होता है ।

भगवान् स्वयं ही वैश्वानर (जठराग्नि) के रूप से प्रत्येक प्राणी में स्थित होकर प्राण और अपान से समायुक्त होकर चर्व्य, चोष्य, लेह्य तथा पेय इन चार प्रकार के भोज्य अन्न को ग्रहण करके पचाते हैं । उन्होंने गीता (१५/१४) में कहा है—

अहं वैश्वानरो भूत्वा प्राणिनां देहमाश्रितः ।
प्राणापान समायुक्तः पचाम्यन्नं चतुर्विधाम् ।।

भोजन का स्थान भी पवित्र होना चाहिये तथा एकान्त में स्वयं भी पवित्र होकर भोजन करे । अपवित्र शरीर से अन्न ग्रहण करने पर उससे मन तथा बुद्धि की उन्नति नहीं होती । इसीलिये शास्त्र में कहा है कि गोमयलिप्त, समतल, पवित्र स्थान में लघुआसन से बैठ कर भोजन करना चाहिये ।

'उपलिप्ते सये स्थाने शुचौ लघ्वासना त्वितः' ।

भोजन विधि का रहस्य

शास्त्रों में पैर धोकर तथा एक वस्त्र ऊपर ओढ़कर और फिर पूर्व अथवा दक्षिण आदि मुख बैठकर एकान्त में भोजन करना बतलाया गया है, जहां पर अन्य सर्वसाधारण की दृष्टि न पड़े। भोजन का स्थान पवित्र, गोमय आदि से लिपा हुआ अथवा जल आदि से शुद्ध होना चाहिए, अपवित्र व्यक्ति का सम्पर्क न होना चाहिए। इन सब में वैज्ञानिक रहस्य है। कहा गया है-

'आयुष्यं प्राङ् मुखो भुङ्क्ते यशस्यं दक्षिणामुखः।'

अर्थात् आयु की इच्छा वाले को पूर्वमुख तथा यशेच्छुक को दक्षिण दिशा की ओर मुख करके भोजन करना चाहिए। इसका कारण यह है कि पूर्व दिशा से प्राणशक्ति का उदय होता है। सूर्य देवता प्राणस्वरूप हैं, जो इस दिशा से उदय होते हैं। अतः इस पूर्व दिशा की ओर मुख करके भोजन करने से आयु बढ़ेगी। दक्षिण की ओर पितृ देवताओं का वास रहता है उस ओर मुख करके भोजन करने से यश प्राप्त होता है।'

प्राणशक्ति पूर्व दिशा में रहने के कारण पूर्व की ओर पैर करके सोने का भी निषेध किया गया है क्योंकि प्राणशक्ति पैरों के द्वारा निकल कर मनुष्य को क्षीण बना देगी। यह विज्ञानसिद्ध है कि मनुष्य के पैरों की ओर से विद्युत्शक्ति और प्राण शक्ति सदा निकला करती है। पैर निकलने का स्थान है और मस्तिष्क तथा शिखा से शक्ति ग्रहण की जाती है वह ग्रहण करने स्थान है। इसलिए जो लोग माता पिता गुरुजन आदि के चरणों पर शिर रखकर प्रणाम करते हैं वे

अपने माता पिता, आदि के गुण तथा आशीर्वाद इत्यादि जो विद्युत् शक्ति के द्वारा हाथ व पैर से निकलते रहते हैं मस्तक द्वार से अपने में ग्रहण करते हैं। प्रसन्नता पूर्वक आशीर्वाद देते हुए माता, पिता आदि अपना हाथ भी पुत्र आदि के सिर पर रखते हैं इससे भी विद्युत् शक्ति के रूप में शुभ भावना प्रवेश कर जाती है पूर्व की ओर मुख करके उपासना करने से भी पूर्व की प्राणशक्ति को उपासक अपनी ओर खींचता रहता है और अपनी शक्ति बढ़ाता है। इन सबका निवेदन आगे किया जायगा, अभी तो पूर्व दिशा की वैज्ञानिक महिमा एवं रहस्य का यत्किंचित् वर्णन है।

मनु महाराज ने (३।२३८ में) यह भी कहा है कि—सिर पर टोपी तथा साफा आदि धारण किये हुये और पैरों में जूता पहने हुये भी भोजन नहीं करना चाहिये। इसका रहस्य यह है कि भोजन करते समय जो क्रिया होती है उससे शरीर में ऊष्मा (गरमी) पैदा होती है। उस के निकलने के दो ही मुख्य मार्ग हैं एक तो सिर और दूसरा पांव। अत: यदि ये दोनों ही बन्द या ढके होंगे तो ऊष्मा निकलने के लिए जोर लगावेगी अत: कुपित होकर सारे शरीर को हानि पहुंचावेगी जिससे स्वास्थ्य की हानि होगी। पैरों में जूता चर्ममय होने से दुर्गन्धित परमाणु फैलते रहेंगे तथा ऊष्मा नहीं निकलने पायेगी जबकि कहा गया है कि गीले पैर से भोजन करना चाहिये। भोजन के बाद यह ऊष्मा अच्छी तरह निकल जाय इसीलिए यह भी कहा गया है कि भोजन करने के पश्चात् लघु शंका कर लेनी चाहिए।

इस प्रकार यह सारी क्रियायें विज्ञान की कसौटी पर कस कर ऋषियों ने हमारे लाभ के लिए बनाई हैं।

पादप्रक्षालन (पैर धोना)

पैर धोने के विषय में मनु ने लिखा है—

"आर्द्रपादस्तु भुञ्जीत नार्द्रपादस्तु संविशेत् ।
आर्द्रपादस्तु भुञ्जानो दीर्घमायुरवाप्नुयात् ॥"

(मनु० ४।७३)

अर्थात् गीले पैर से भोजन करना चाहिए, गीले पैर से सोना नहीं चाहिए। पांव धोकर गीले पैरों से भोजन करने से दीर्घ आयु की प्राप्ति होती है गीले पैर से भोजन करने में लाभ यह है कि पैर धोने से जो एक प्रकार की उष्णता उत्पन्न होती है, वह ऊपर उठकर उदर में एकत्रित हो जाती है जो भोजन को पचा देने योग्य बनाती है।

पाद प्रक्षालन के और भी बहुत से लाभ स्वास्थ्य की दृष्टि से हैं। सुश्रुत संहिता चिकित्सा स्थान अध्याय २४ में आया है कि—

पाद प्रक्षालनं पाद मल रोग श्रमापहम् ।
चक्षुः प्रसादनं वृष्यं रक्षोघ्नं प्रीतिवर्द्धनम् ॥

(सु० चि० स्था० अ० २४)

अर्थात् पैरों का धोना पैरों का मैल तथा तज्जनित रोग तथा थकावट को दूर करता है, आंखों को हितकर, वीर्यवर्द्धक, विषैले प्रभाव का नाशक और मन प्रसन्न करने वाला होता है।

पैर धोने से बुद्धि की पवित्रता, दरिद्रता का विनाश और परिश्रम जनित दुःख का निवारण होता है तथा यह आयु को हितकर भी है।

पाद प्रक्षालनं मेधा जनकं सुपवित्रकम् ।
अलक्ष्मी कलिहृत् चैव आयुषा हितकारि च ।।

शौचाचार में पहले बायां पैर और फिर दाहिना पैर धोने के लिये कहा गया है। पैर पर जल पड़ने से ऊष्मा शान्त हो जाती है तथा उसकी शीतलता से नेत्र ज्योति पर प्रभाव पड़ता है। पैरों की नसों व नाड़ियों का आंखों से सीधा सम्बन्ध है अत: परिश्रम जनित ऊष्मा का प्रभाव नेत्र पर न पड़कर शीतल ज्योति वर्द्धक प्रभाव पड़ता है। और जल पड़ने से एक विद्युत् शक्ति का संचार पैरों में होने लगता है जो शरीर व स्वास्थ्य के लिये हितकारी, श्रमनाशक और लाभदायक होता है। चमड़े के पाद त्राण जूता आदि पहनने से उत्पन्न ऊष्मा की शान्ति के साथ गन्दगी तथा श्रम जनित क्लेश नाश होने के साथ साथ अन्त:करण में सात्विक आनन्द की अनुभूति भी होती है। आजकल लोग इसे ढोंग समझकर इसकी अवहेलना करने लगे हैं जिससे वे इसके लाभ से वंचित होकर स्वास्थ्य प्राप्ति के स्थान पर रोग ग्रसित होते चले जाते हैं।

इसके अतिरिक्त हाथ-पैर धोने में एक विशेष लाभ यह है कि भोजन करते समय श्वास-प्रश्वास की गति बढ़ जाती है और श्वास-गति का बढ़ना आयु के लिए हानिकारक है, अत: हाथ-पैर धोने से उसकी गति में कमी आ जाती है और विद्युत्-शक्ति उत्पन्न हो जाने से पाचन में सहायता मिलती है।

मौन—भोजन

मौन होकर भोजन करने से चबाने की क्रिया अच्छी होती है। विशेष बात यह है कि भोजन करते समय लार

(जिसे सलीवा कहते हैं) उत्पन्न होती है जो भोजन को पचाती है, अतः यदि बातचीत की जायगी, तो वह लार पर्याप्त मात्रा में न बन सकेगी, जिससे भोजन अच्छी तरह न पचेगा। इसके अतिरिक्त जिह्वा आदि के कटने का भय भी बातचीत करने में रहता है। तथा मौन से इन्द्रिय निग्रह तो होता ही है। इसके अतिरिक्त बातचीत करने में थूक की छींटें भी गिरने का भय रहता है।

भोजन भगवान् का प्रसाद है

भोजन को भगवान् का प्रसाद मान कर पाना चाहिये-
गीता में कहा गया है--

यज्ञ शिष्टाशिनः सन्तो मुच्यन्ते सर्व किल्बिषैः।
भुंजते ते त्वघं पापा ये पचन्त्यात्मकारणात् ॥
(३।१३)

अर्थात् यज्ञ से शेष बचे हुये अन्न को खाने वाले श्रेष्ठ पुरुष सब पापों से छूट जाते हैं और जो पापी लोग अपने शरीर के पोषण के लिये ही पकाते हैं वे तो पाप को ही खाते हैं।

भगवान् का भोग लगाकर प्रसाद पाने में बहुत से लाभ हैं। इससे अभक्ष्य तथा निषिद्ध पदार्थ खाने से मनुष्य बच जायेगा। क्योंकि निषिद्ध अपवित्र पदार्थ का भोग भगवान् को भक्त कैसे लगायेगा। इसके अतिरिक्त भोग लगाने की क्रिया एक धार्मिक अनुष्ठान के रूप में होने से इसकी धार्मिक निष्ठा को और भी दृढ़ बनायेगी। जिससे मन बुद्धि में धार्मिक भावना तथा भगवद्-भक्ति की उत्पत्ति होगी।

रोटी दाल तथा पूड़ी पक्वान्न में भेद

भोजन के विषय में रोटी दाल की अपेक्षा पूड़ी आदि घृत से पके अन्न को शुद्ध माना जाता है। इसका वैज्ञानिक रहस्य यह है कि एक तो घृत स्वयं ही शुद्धिकारक है दूसरी बात यह है कि जल से बना हुआ पदार्थ जल्दी विकृत हो जाता है क्योंकि कीटाणु जल को शीघ्र ही दूषित एवं विकृत कर देते हैं परन्तु घृत पर कीटाणुओं का आक्रमण सफल नहीं होता इसलिये घृत से बना हुआ अन्न न तो शीघ्र दूषित होता है और न विकृत, इसलिये वह पवित्र माना जाता है। कच्चे भोजन रोटी दाल आदि खाने में इसीलिये पूड़ी आदि की अपेक्षा विशेष विचार किया जाता है। पूड़ी मिष्ठान आदि में उतना विचार नहीं है क्योंकि इसमें घृतादि चिकनाई की प्रधानता रहती है।

मिट्टी आदि के पात्रों का विचार

इसी प्रकार भोजन के पात्रों का भी विचार तथा वैज्ञानिक रहस्य है। चांदी, फूल तथा पीतल आदि के बर्तन अधिक पवित्र माने जाते हैं, वे मिट्टी आदि से मांज कर साफ भी कर लिये जाते हैं परन्तु मिट्टी के बर्तनों का बारबार प्रयोग करने का निषेध है उसका वैज्ञानिक रहस्य यह है कि मिट्टी के पात्र में कीटाणु बहुत जल्द और बहुत अधिक संख्या में जम जाते हैं और उन्हें दूर करने में बड़ी कठिनाई होती है। एक वैज्ञानिक ने इसका परीक्षण किया तो ज्ञात हुआ कि कांच या मिट्टी के प्याले में ओंठ का लगना था कि सहस्रों कीटाणु वहां जम गये और पानी से धोने पर भी उनका पूरा असर नहीं गया। यही कारण

है कि मिटटी के बर्तन में स्पर्शास्पर्श का बड़ा विचार है। तथा एक व्यक्ति का प्रयोग किया हुआ जूठा बर्तन दूसरे व्यक्ति को प्रयोग करने का निषेध किया गया है। मिट्टी के घड़े आदि में जल का संयोग होने के कारण उसमें कीटाणु बहुत शीघ्र तथा अधिक संख्या में प्रभाव डालते हैं।

शास्त्रकारों ने यहां तक वर्णन किया है कि भोजन के समय कौन सी वस्तु कहां पर रक्खे। यथा—अच्छे निर्मल थाल में सामने भात परोस कर रक्खे और सामने संस्कार किये हुये प्रदेह (हलुआ आदि नरम पदार्थ) स्थापन करे। फल और सर्व प्रकार के भक्ष्य पदार्थ और जो सूखे पदार्थ हों उन्हें भोजन करने वाले के दाहिने और रक्खे। द्रव (पतले) और रस, पानी, पना, दूध, रबड़ी खीर, श्री खण्ड आदि तथा अन्य पीने वाले पदार्थ बाईं तरफ रखने चाहिये। सर्व प्रकार के गुड़ के विकार (खांड शंकर) आदि भोजन तथा खाण्डव व सट्टक (शिखरण) इन्हें बुद्धिमान पुरुष दोनों के बीच में रक्खे।

इसमें रखने की कुशलता, सुविधा, तथा सुन्दरता के साथ साथ आयुर्वेद की दृष्टि से लाभदायक तथा वैज्ञानिक रहस्य यह है कि भोजन करने वाला व्यक्ति दाहिनी ओर रक्खी हुई वस्तुओं को पहले खायेगा अत: दाहिनी ओर भक्ष्य सूखे पदार्थ रक्खे गये। उन्हें पहले खाने से पाचन यन्त्र का प्रारम्भिक कार्य उन्हीं को पचाने में लग जावेगा। बायीं तरफ़ वाली वस्तुओं को यदि थोड़ा बहुत भोजन कर चुकने के बाद भी खाया जायगा तो वे पतले तथा रसमय पदार्थ होने के कारण अवश्य ही पच जांयगे। बीच वाले पदार्थ सुस्वादु तथा रुचिकर होने के कारण भोजन प्रेम पूर्वक करने में सहायक होते हैं।

भोजन विधि में वैज्ञानिक रहस्य
(पाटा और पादुका)

भोजन के पहले और पीछे खड़ाऊं धारण करने की प्रथा सनातन-धर्मियों में आज भी है, जिसके विषय में शास्त्र में लिखा है कि—

पादुका धारणं कुर्यात् पूर्व भोजनतः परम् ।
पाद रोग हरं वृष्यं चक्षुष्यं चायुषाहितम् ।।

(भाव प्र०)

अर्थात् भोजन करने के प्रथम और पश्चात् खड़ाऊं धारण करे। इससे पांवों के रोग दूर होते हैं, शक्ति प्राप्त होती है, यह नेत्रों को हितकारी तथा आयु को बढ़ाने वाली होती है।

भोजन करते समय लकड़ी के पाटे पर बैठने से ऐसे ढंग से व्यक्ति को बैठना पड़ता है कि उसके सारे अंग ठीक ठीक भोजन क्रिया में कार्य करते समय साथ दे सकें तथा उस समय की विद्युत् शक्ति पास होकर न तो किसी की शक्ति भोजन करने वाले को प्रभावित कर सके और न उसकी शक्ति निकल कर किसी दूसरे के ही पास जा सके।

वस्त्र-धारण

भोजन करते समय शरीर के प्रत्येक अंग अर्थात् यन्त्र की क्रिया होने लगती है, इसलिए बाहरी वायु की बाधा रोकने के लिए और अन्दर की शक्ति सुरक्षित रूप से कार्य करती रहे इसलिए (नाग्नमद्यादेकवासा) एक वस्त्र पहन कर भोजन नहीं

करना चाहिए। ऊपर से दूसरा वस्त्र ओढ़ने का विधान किया गया है। रेशमी वस्त्र पर ऊपरी बाधाओं का प्रभाव शीघ्र नहीं पड़ पाता, इसलिए वह विशेष उपयोगी समझा गया है। प्रत्येक प्राणी के नेत्रों से एक प्रकार की विद्युत्शक्ति, जिसमें कि उसकी भावना मिश्रित रहती है, हर समय निकला करती है। जिस प्रकार की भावना अथवा मन की वृत्ति होती है, वह नेत्रों की दृष्टि से प्रत्यक्ष सूचित हो जाती है। क्रोधी मनुष्य की दृष्टि स्पष्ट क्रोध को सूचित कर देती है--यह अनुभव सिद्ध है। अतः यदि आपकी दृष्टि किसी प्रकार के अन्न पर अथवा भोजन पर जिस भावना से पड़ती है, उस भावना का प्रभाव दृष्टि के द्वारा भोजन में अवश्य संक्रामित हो जाता है, अतः उस भावना का प्रभाव निश्चय ही मन पर पड़ेगा, इसलिए एकांत में भोजन करने का विधान किया गया है। माता, पिता की दृष्टि अच्छी तथा दरिद्री, रोगी व पापी पुरुष और श्वान आदि की दृष्टि दूषित कही गयी है। इसलिए इनकी दृष्टि से भोजन बचाना चाहिए।

भोजन के पूर्व आहुति तथा गोग्रास निकालना

भोजन के पूर्व ही हमारे यहां अग्नि में (लवणरहित) भोज्य पदार्थ की आहुति देना, गोग्रास देना तथा कुत्ता, काक इत्यादि को भोजन निकालने का विधान है, जो 'बलि-वैश्वदेव' के नाम से कहा गया है। इसमें धार्मिक यज्ञ कृत्य के साथ साथ लौकिक उपकारी वैज्ञानिक बात यह है कि इससे भोजन की परीक्षा भी हो जाती है। अग्नि में डालते ही दूषित अन्न से दुर्गन्ध आने लगती है, धुआं दूसरे रंग का निकलने लगता है, जिससे अन्न की परीक्षा हो जाती है। 'मत्स्यपुराण' में कहा गया है-

"चकोरस्य विरज्येते नयने विषदर्शनात् ।"

अर्थात् विषाक्त अन्न को देखकर चकोर के नेत्रों का रंग बदल जाता है। तथा भृंगराज (एक पक्षी) तोता, मैना ये पक्षी विष और सर्प को देखकर अत्यन्त उद्विग्न होकर चिल्लाने लगते हैं--

भृङ्गराजः शुकश्चैव सारिकाचेति पक्षिणः ।
क्रोशन्ति भृशमुद्विग्ना विष पन्नग दर्शनात् ।।

इस प्रकार अनेकों लाभ तथा वैज्ञानिक चमत्कार इसमें समाविष्ट है।

भोजन में पंक्ति-भेद

प्रत्येक मनुष्य में विभिन्न भावना एवं विभिन्न विद्युत्शक्ति होती है। सात्विक में सात्विकी, राजस में राजसी इत्यादि। अत: जिस वृत्ति वाले मनुष्य के साथ अन्न का संस्पर्श एवं सम्पर्क होगा, उसकी वैसी ही वृत्ति उस अन्न में संक्रान्त हो जायगी। भिन्न-भिन्न प्रकार की वृत्तियों का परिणाम एक दूसरे पर अवश्य पड़ेगा, अत: सबके साथ, चाहे जिसका छुआ हुआ एवं अपवित्र, चांडाल, पापी मनुष्य आदि का अन्न ग्रहण करने का निषेध किया गया है।

महाभारत में आया है कि द्रोपदी के चीरहरण के समय भीष्म पितामह भी कुछ नहीं बोले, इस अन्याय को देखते रहे। इसका कारण यही था कि उन्होंने दुर्योधन का पापान्न (अन्याय-सम्बन्धी) ग्रहण किया था जिससे उनका ज्ञान कुण्ठित हो गया था, बुद्धि की शुद्धता नष्ट हो गयी थी, तो जब भीष्म पितामह जैसे महात्मा की बुद्धि पर भी अन्न का प्रभाव पड़ सकता है तो फिर साधारण व्यक्ति की तो बात ही क्या है।

इसके अतिरिक्त अपने से भिन्न वर्ण अथवा श्रेणी वालों के साथ बैठकर भोजन करने से अपनी उच्चगुण-विशिष्ट विद्युत्शक्ति नष्ट हो जाती है। एक पंक्ति में भोजन करते समय इसका ध्यान रखना आवश्यक है कि साथ ही भोजन करने में सबके शरीर की एक ही साथ भोजन क्रिया होने से एक प्रकार की विद्युत्श्रृंखला सी बंध जाती है, उसमें से जो पहले उठ जायगा, उसकी विद्युत्शक्ति को बैठे हुए लोग बलात् समष्टि शक्ति के कारण अपने में खींच लेंगे, जिससे कि पहले उठ जाने वाले का भोजन नहीं पच सकेगा। इन सब भोजन-विधियों में घृणा का कोई दूषित भाव नहीं है, बल्कि कल्याण-कारी, स्वास्थ्य के लिए लाभदायक, धर्ममय, वैज्ञानिक भावना है।

यह तो विज्ञानसिद्ध एवं प्रमाणित हो चुका है कि हाथ से हाथ का स्पर्श होने पर रोग के वीज एक दूसरे में चले जाते हैं। रोग ही नहीं, किन्तु शारीरिक एवं मानसिक वृत्तियों में भी हेर फेर हो जाता है। अतः हमें आहार तथा उसके नियमों पर विशेष ध्यान देना चाहिए और यथाविधि उसके अनुकूल चलना चाहिए, क्योंकि यदि आहार शुद्ध होगा, तो मन एवं शरीर भी शुद्ध रहेगा, भावना तथा विचार भी शुद्ध रहेंगे और क्रिया भी शुद्ध होगी।

अब इसके पश्चात् हम सनातन आचार पर एक दृष्टि डालते हैं।

आचार और धर्म

आचार को प्रथम धर्म कहा है-

"आचारः प्रथमो धर्मः श्रुत्युक्तः स्मार्त एव च।"

अर्थात् श्रुति-स्मृतियुक्त आचार प्रथम धर्म है। आचार से आयु, लक्ष्मी तथा यश की प्राप्ति होती है।

"आचाराल्लभते ह्यायुराचाराल्लभते श्रियम्।
आचाराल्लभते कीर्तिं पुरुषः प्रेत्य चेह च।"

सदाचार की परिभाषा

सदाचार की परिभाषा करते हुये ऋषि कहते हैं कि–'धर्मानुकूल शारीरिक व्यापार ही सदाचार है।' केवल शारीरिक व्यापार या शारीरिक चेष्टा सदाचार नहीं, वह तो अंग संचालन मात्र की क्रिया है। उससे स्थूल शारीरिक लाभ के अतिरिक्त आत्मोन्नति का सम्बन्ध नहीं। इस कारण कोरी शारीरिक क्रिया को सदाचार नहीं कहते। शारीरिक व्यापार या शारीरिक चेष्टा जब धर्मानुकूल अथवा किसी प्रकार धर्म को लक्ष्य करते हुये होती है तब वह सदाचार होता है और तब उससे स्थूल, सूक्ष्म और कारण तीनों शरीर की उन्नति और साथ ही साथ आत्मा का भी अभ्युदय साधन होता है। यह धर्मानुकूल आचरण ही सदाचार है।

महर्षि वशिष्ठ लिखते हैं कि—

आचारः परमोधर्मः सर्वेषामिति निश्चयः।
हीनाचार परीतात्मा प्रेत्य चेह च नश्यति॥

(वशिष्ठ स्मृति०६।१)

अर्थात् यह निश्चय है कि आचार ही सबका परम धर्म है। आचार भ्रष्ट मनुष्य इस लोक और परलोक दोनों में नष्ट होता है।

काशी खण्ड में भी कहा गया है कि--

आचारः परमो धर्मः आचारः परमं तपः ।
आचाराद्वर्द्धते ह्यायु राचारात् पाप संक्षयः॥

अर्थात् आचार परम धर्म है, आचार परम तप है, आचार से आयु की वृद्धि तथा पाप का नाश होता है। आचार हीन व्यक्ति यदि सांगोपांग वेदों का विद्वान् भी है तो वेद उसको पवित्र नहीं कर सकते और वैदिक ऋचायें भी उसे अन्तकाल में इसी प्रकार त्याग देती हैं जैसे अग्नि के ताप से तप्त घोंसले को पक्षी त्याग देते हैं।

आचार हीनं न पुनन्ति वेदाः यद्यप्यधीता सहषड्भिरंगैः।
छन्दास्येनं मृत्युकाले त्यजन्ति नीडं शकुन्ता इव ताप तप्ताः॥
(वशिष्ठ० स्मृति० ६।३)

इसके अतिरिक्त दुराचारी मनुष्य लोक में निन्दित, दुःख का भागी, रोग ग्रस्त और अल्पायु होता है। सदाचार का फल धर्म है, सदाचार का फल धन है, सदाचार से श्री की प्राप्ति होती है तथा सदाचार कुलक्षणों को नाश करता है।

आचारः फलते धर्मआचारः फलते धनम् ।
आचाराच्छ्रियमाप्नोति आचारो हन्त्यलक्षणम्॥
(वशिष्ठ० ६।७)

प्रातः जागरण

मनुस्मृति (४।९२) में कहा गया है कि—

ब्राह्मे मुहूर्ते बुध्येत धर्मार्थौ चानुचिन्तयेत् ।
कायक्लेशाँश्च तन्मूलान् वेदतत्त्वार्थ मेव च ॥

अर्थात् ब्राह्म मुहुर्त्त में उठकर धर्म अर्थ का चिन्तन, काय-क्लेश का निदान तथा वेदतत्त्व परमात्मा का स्मरण करना चाहिये। इस प्रकार ब्राह्म मुहूर्त्त में जागरण की बात लिखी है। ब्राह्ममुहूर्त्त प्रातःकाल चार बजे होता है। शास्त्र में कहा है कि-

रात्रेः पश्चिम यामस्य मुहूर्तो यस्तृतीयकः।
स ब्राह्म इति विज्ञेयो विहितः स प्रबोधने ॥

अर्थात् रात के पिछले पहर का जो तीसरा मुहूर्त्त (भाग) होता है वह ब्राह्ममुहूर्त्त होता है, जागने के लिये यही समय उचित है।

इसका वैज्ञानिक रहस्य तथा लाभ यह है कि प्रातःकाल का समय परमशान्त, सात्विक, स्वास्थ्यप्रद तथा जीवनप्रदायिनी-शक्ति लिये हुये होता है। दिन भर का सारा कोलाहल रात्रि में शान्त होकर निस्तरंगवत् शान्त समुद्र की भांति स्थिर हो जाता है, प्रकृति निस्तब्ध हो जाती है। तथा ब्राह्ममुहूर्त्त में रात्रि-मूलक तमोगुण, तथा उससे उत्पन्न जड़ता मिट जाती है और सतोगुण मयी चेतना का संचार होने लगता है। प्रातः जागरण से शरीर में स्फूर्ति आ जाती है और मन दिन भर प्रसन्न तथा प्रफुल्लित रहता है। आलस्य दूर होकर दिन भर ताजगी बनी रहती है। इस समय वातावरण परम शान्त रहता है। वृक्ष अशुद्ध वायु आत्मसात् करके शुद्ध वायु शक्तिप्रदायिनी आक्सीजन प्रदान करते हैं, तभी तो लोग प्रातःकाल बाग बगीचे तथा पुष्पोद्यान में टहलने जाते हैं और प्राकृतिक सौन्दर्य का आनन्द लेते हुए दिन भर प्रसन्नवदन रहते हैं। इस समय शीतल मन्द सुगन्धित समीर चलती है जिसमें चन्द्रमा की किरणों तथा नक्षत्रों का प्रभाव रहता है जो हमारे

लिये स्वास्थ्य प्रद तथा सब प्रकार से लाभकारी है। चन्द्रकिरणों तथा नक्षत्रों के अमृतमय प्रभाव का लाभ प्रातःकाल हम उठा लेते हैं। रात्रि में तमोगुण की प्रधानता रहने से उस अमृत का प्रभाव नहीं प्रकट होता, प्रातःकाल सात्विक ज्योतिःपुञ्ज प्रकट होने के कारण उस गुण और प्रभाव को वायुमण्डल ग्रहण कर लेता है--तभी तो इस समय को अमृत बेला भी कहते हैं। क्योंकि इसके बाद भुवन भास्कर सूर्यनारायण के उदय होने का समय आता है जो कि प्राणशक्ति के प्रदाता और बुद्धि को प्रेरणा देने वाले जगत् प्रकाशक हैं। निस्तब्ध प्रकृति की सारी शक्ति इस समय उसमें ही केन्द्रित रहती है। अतः यह समय प्रकृति का एक आनन्ददायक वरदान है। प्रातः जागरण से मन प्रसन्न, इन्द्रियां चैतन्य, मस्तिष्क शुद्ध तथा बुद्धि प्रखर रहती है। शरीर में स्वास्थ्य, बल, सौन्दर्य तथा कान्ति की वृद्धि होती है। यह समय स्वास्थ्यप्रद तथा आयुवर्द्धक होता है, आयुर्वेद शास्त्र भी कहता है-

वर्णं कीर्तिं मतिं लक्ष्मीं स्वास्थ्यमायुश्च विंदति।
ब्राह्मे मुहूर्त्ते संजाग्रच्छ्रियं वा पंकजं यथा॥
(भै० सा० ९३)

अर्थात् ब्राह्म मुहूर्त्त में उठने से पुरुष को सौन्दर्य, कीर्ति, बुद्धि, लक्ष्मी, स्वास्थ्य तथा आयु की प्राप्ति होती है, कान्ति बढ़ती है, कमल की भाति सुन्दरता, प्रसन्नता, श्री आदि प्राप्त हो जाती है। आप स्वयं अनुभव करें कि इस समय प्रकृति भी आपकी अगवानी करती है, प्रफुल्लित होकर आनन्द प्रदान करती है, कमल खिले, पुष्प विकसित, पक्षियों का कलरव

सभी कुछ आनन्द दायक रहता है। प्रातः जागरण से दिन भर शरीर में स्फूर्ति बनी रहती है। और साथ ही व्यावहारिक दृष्टि से इस समय जाग जाने से हम अपने दैनिक कृत्य से, नित्य नियम से शीघ्र ही निवृत्त हो जाते हैं, हमारा पूजन पाठ भी ठीक तरह से सम्पन्न हो जाता है और इस प्रकार हम कर्म क्षेत्र में उतरने के लिए एक वीर सिपाही की तरह तैयार हो जातेहैं- यह सब प्रातः जागरण के लाभ संक्षेप में वर्णन किये गये हैं। ऋग्वेद (५।४४।१४) में भी कहा गया है--

यो जागार तमृचः कामयन्तेयो जागार तमु सामानियन्ति।
यो जागार तमयं सोम आह तवाहमस्मि सख्ये न्योकाः॥

अर्थात् जो मनुष्य प्रातःकाल जाग उठता है, उसको ऋचाएं चाहती हैं, उसको ही स्तुतियां प्राप्त होती हैं। उसके प्रति ईश्वर कहता है कि हे मनुष्य! मैं तेरी मित्रता में स्थिर रहता हूं।

भगवत्स्मरण

प्रातःकाल जगकर हमें भगवान का स्मरण करना चाहिये। इससे हमें भगवत्कृपा तथा शुभ प्रेरणा प्राप्त होगी, अन्तःकरण शुद्ध होगा, आत्मबल प्राप्त होगा, और हमारा दिन प्रसन्नता से हर कार्य में सफलता प्राप्त करते हुये बीतेगा। हम धर्म पथ से विचलित न होंगे तथा भगवत् स्मरण का बल हमें दिन भर मिलता रहेगा।

प्रातः स्मरामि हृदि संस्फुरदातम--तत्त्वं
सच्चित् सुखं परमहंस गतिं तुरीयम्।
यत्स्वप्न जागर सुषुप्ति मवैति नित्यं
तद् ब्रह्म निष्कलमहं न च भूत संघः॥

इत्यादि भगवत् स्मरण के श्लोक पढ़ते ही हमारे मन में भगवद् भक्ति और आत्म बल का उदय होने लगताहै।

प्रात:काल मन और मस्तिष्क शान्त, स्वच्छ तथा निर्मल रहता है अत: इस समय जैसे संस्कार इस पर पड़ जायेंगे वैसे ही दृढ़ हो जावेंगे। इसलिये इस समय का भगवत्स्मरण, चिन्तन मनन, ध्यान तथा विद्यार्थियों का पढ़ना सभी कुछ बहुत अच्छा और लाभदायक है। इससे जीवन संयमित, आदर्श, सच्चरित्र तथा कल्याणकारी बनता है।

प्रातः-स्मरण

प्रात: जागरण में भगवत् स्मरण के साथ साथ प्रात:-स्मरण का भी विधान हमारे सनातन धर्म में है। जिसका रहस्य यह है कि भगवत् स्मरण के साथ साथ महापुरुषों के स्मरण करने से उनके गुणों का प्रभाव हम पर पड़ता है, हमारी भावना ऐसी बनती है कि हम भी ऐसे ही गुणवान, चरित्रवान तथा आदर्श बनें। उनके मंगलमय स्मरण से हमारे जीवन में भी मंगल तथा कल्याण की भावना जागृत होती है और हमें प्रेरणा मिलती है।

प्रभाते कर-दर्शनम्

इसके अतिरिक्त प्रात:काल कर-दर्शन की विधि हमारे यहां सनातन धर्म में कही गई है। प्रात:काल अपने हाथ की हथेली को देखकर फिर उसे चूमते हैं और मस्तक पर लगाते हैं। कहा गया है—

कराग्रे बसते लक्ष्मी कर मध्ये सरस्वती।
कर मूले तु गोविन्द प्रभाते कर दर्शनम्॥

अर्थात् हाथ के अग्र भाग में लक्ष्मी, मध्य में सरस्वती तथा कर मूल में गोबिन्द का निवास है अत: प्रात:काल कर दर्शन करना चाहिये। इसका भाव तथा रहस्य यह है कि कर के द्वारा कर्म करके हम सब कुछ प्राप्त कर सकते हैं। हाथ से पुरुषार्थ करके हम धन कमाते-लक्ष्मी प्राप्त करते हैं, लिख पढ़कर विद्या अर्थात् सरस्वती की प्राप्ति करते हैं तथा इसी हाथ से जप करके हम गोविन्द (भगवान) को प्राप्त करते हैं। इस प्रकार हमें पुरुषार्थ से कर्म, गोविन्द से उपासना और सरस्वती से ज्ञान अर्जन की प्रेरणा तथा शक्ति प्राप्त होती है। अथवा लक्ष्मी रूपी धन से अर्थ और काम (धर्मानुकूल), गोविन्द से धर्म तथा सरस्वती से ज्ञान द्वारा मोक्ष की प्राप्ति का सन्देश मिलता है। इस प्रकार इन हाथों से हम धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष चारो फल अथवा धन, विद्या और भगवान को प्राप्त कर सकते हैं। अत: हम इसके लिये प्रयत्न करें, यह प्रेरणा मिलती है।

भूमिवन्दन, पादस्पर्शं क्षमस्व मे

कर दर्शन के पश्चात् सनातन धर्म में पृथ्वी माता पर पैर रखने के लिए क्षमा प्रार्थना की जाती है। भूमि वन्दन की इस क्रिया में यह श्लोक पढ़ा जाता है–

समुद्र वसने देवि ! पर्वतस्तन मण्डले।
विष्णुपत्नि नमस्तुभ्यं पादस्पर्शं क्षमस्व मे।

अर्थात् हे समुद्र रूपी (नीले) वस्त्र धारण करने वाली, पर्वत रूपी स्तनों से बिभूषित विष्णु पत्नि! मैं तुझे प्रणाम करता हूं, मेरे पादस्पर्श को आप क्षमा कीजिये।

भारत माता के सम्मान में इस श्लोक का भाव बहुत ही महत्व पूर्ण है। इस के पढ़ने से भारत माता की विशाल मूर्ति चित्रित होकर हमारी आंखों के सामने आ जाती है। नीले समुद्र रूपी वस्त्र की साड़ी पाद तल से कटि तक स्पष्ट ही सुशोभित प्रकट होती है, पर्वत रूपी स्तनों से गंगा यमुना जैसी सुमधुर नीर मयी क्षीर धारा प्रवाहित होती है जिसके सिंचन से पैदा हुये अन्न जल से भारत माता के पुत्रों का पालन पोषण होता है। विष्णु पत्नी लक्ष्मी से यह भाव स्पष्ट है कि धन धान्य की भण्डार यह शस्य श्यामला धरती हमारी माता ही है (जो अधिष्ठात्री लक्ष्मी स्वरूप है)। इस प्रकार धरती को माता तथा भगवान् विष्णु को पिता मानने की धार्मिक भावना भी इससे दृढ़ होती है।

भगवान विष्णु ही सारे संसार का पालन करने वाले पिता स्वरूप हैं, और जिस प्रकार पिता पालन तो करता है परन्तु भोजन, खाना पीना, शरीर तथा स्वास्थ्य आदि की सारी देख-भाल का कार्य तो माता द्वारा ही सम्पन्न होता है उसी प्रकार हम पर कृपा तो भगवान् की है परन्तु शरीर का पालन पोषण, अन्न, जल, स्वास्थ्य आदि सभी कुछ हमें भारत माता से ही स्पष्ट और प्रकट रूप में मिलता है। इसलिये ऐसी परम पूज्या माता को जो पादस्पर्श (विवशता से) हो रहा है उसकी क्षमा प्रार्थना करना उचित ही है। इस प्रकार मातृभूमि के प्रति हमारी ममता, भक्ति, तथा आदरमयी पूज्य भावना जागृत होकर दृढ़ बनी रहे यह इसका भाव है। भूमि वन्दन से हमारे मानस में मातृभक्ति के साथ साथ राष्ट्रीय चेतना का भी संचार होता है। तभी तो कहा गया है—

"जननी जन्म भूमिश्च स्वर्गादपि गरीयसी ।"

अर्थात् जननी और जन्म भूमि स्वर्ग से भी अधिक बढ़कर है। स्वर्ग में जो सुख मिल सकता है उससे भी अधिक सुख माता अपने बच्चे को देती है और असमर्थता वश यदि वह नहीं दे पाती तो भी उसकी कल्पना करके अपने पुत्र को वैसा ही सुखी, समृद्धिशाली और ऐश्वर्य सम्पन्न देखना चाहती है।

ब्राह्म मुहूर्त में प्राणशक्ति तथा विद्युत्शक्ति के ग्रहण करने का लाभ प्राप्त होता है। उस समय सम्पूर्ण प्रकृति के निस्तब्ध हो जाने के कारण चित्त स्थिर रहता है, इन्द्रियां, मन आदि बिल्कुल ताजा तथा स्वच्छ रहते हैं, अतः उस समय उपासना एवं ध्यान भली भांति हो सकता है। प्राण के देवता सूर्यनारायण से उपासना द्वारा प्राणशक्ति का संचय इस समय बहुत अच्छी रीति से हो सकता है। सूर्य की किरणें प्रातःकाल अनेक दुष्ट कीटाणुओं को नष्ट करती हैं।

शय्या त्याग तथा शौचादि कृत्य

ब्राह्ममूहूर्त में उठकर शय्यात्याग के पश्चात् तत्काल ही शौच के लिए जाना चाहिए दिन को उत्तर की ओर मुंह करके बैठने का विधान है–

"मूत्रोच्चारसमुत्सर्गं दिवा कुर्यादुदंमुखः ।
दक्षिणाभिमुखो रात्रौ सन्ध्ययोश्च तथा दिवा ।।"

(मनु० ४।५० तथा वशिष्ठ० ६।१०)

अर्थात् दिन में उत्तर की ओर तथा रात में दक्षिण की ओर और दोनों सन्ध्याओं में दिन के समान अर्थात् उत्तर की ओर मुंह करके मल मूत्र त्याग करना चाहिए।

"प्रत्यग्नि प्रतिसूर्यं च प्रतिसोमोदकद्विजान् ।
प्रतिगां प्रतिवातं च प्रज्ञा नश्यति मेहतः ।।"
(मनु० ४।५२ तथा वशिष्ठ० ६।११)

अर्थात् अग्नि, सूर्य, चन्द्रमा, जल, ब्राह्मण, गौ तथा वायु इन के सामने की ओर मल मूत्र करने वाले की बुद्धि नष्ट हो जाती है। ऐसी अनेकों शिक्षायें दी गयी हैं जिनका पालन न करने से ही लोग आजकल प्रमेह, बवासीर आदि अनेकों इन्द्रिय रोगों से ग्रसित हो रहे हैं। कारण यह है कि पूर्व की ओर से आती हुई विद्युत्शक्ति वायु के साथ सामने से मल मूत्र के ऊपर से होकर इन्द्रियों में सूक्ष्म कीटाणुओं के द्वारा प्रवेश कर जाती है। मल-मूत्र के दोष से दूषित वह वायु, प्रवेश तथा स्पर्श करके रोग उत्पन्न कर देती है। अग्नि की विद्युत्शक्ति द्वारा भी यही बात होती है, वायु से तो यह बात प्रत्यक्षसिद्ध ही है। इसके अतिरिक्त अति उज्ज्वल, सतेज, तथा सबल वस्तु के स्पर्श, दर्शन आदि से स्नायुजाल उत्तेजित और चंचल हो उठता है। इससे कोष्ठशुद्धि में बाधा होने के कारण रोग उत्पन्न हो सकते हैं। इसलिए अग्नि, जल, ब्राह्मण, सूर्य आदि की ओर मुंह करके शौच जाना निषिद्ध है। तथा ये सब पूज्य भी हैं, अतः इनके सम्मुख ऐसी क्रिया करने से बुद्धि अवश्य ही भ्रष्ट हो जायगी।

कहा गया है कि--

'वाचं नियम्य यत्नेन ष्ठीवनोच्छ्वासवर्जितः'

अर्थात् शौच के समय बोलना हांफना और थूकना आदि नहीं चाहिये।

पुरीषे मैथुने पाने प्रस्रावे दन्त धावने।
स्नानभोजनजाप्येषु सदा मौनं समाचरेत्।'
(अत्रिस्मृति-३२०)

अर्थात् मल त्याग, मैथुन, जलादि पीने, लघुशंका करने, दन्तधावन, स्नान, भोजन तथा जप के समय सर्वदा मौन धारण करना चाहिये। तथा शिर पर वस्त्र लपेटकर शौच जाना चाहिये।

'अन्तर्धाय तृणैर्भूमिं शिरः प्रावृत्य वाससा'
(अंगिरास्मृति तथा वशिष्ठ० १२।१)

वहां अधिक ठहरना भी नहीं चाहिये। इन सब क्रियाओं में महत्व पूर्ण विज्ञान भरा है। शरीर के ऊपरी भाग में जो स्नायुजाल है, उसमें क्रिया उत्पन्न होने पर नीचे का शारीरिक यन्त्र पूर्णरूपेण यथारीति कार्य नहीं कर सकेगा, अतः यदि उस समय थूकना, बातचीत करना, हांफना इत्यादि कोई क्रिया की जायगी, तो नीचे का स्नायुजाल शिथिल हो जाने के कारण शौच क्रिया ठीक से नहीं होगी, इससे अनेक रोग हो जाने की सम्भावना है। शौच क्रिया रोकने से प्रातः शौच न करके अन्य कर्म में लग जाने से शारीरिक यन्त्र काम करने लगेगा, जिससे कि हलचल पैदा हो जाने के कारण शरीर के मल का दूषित रस रक्त में मिलकर अनेकों रोग उत्पन्न करेगा, जिससे रक्तविकार आदि अवश्य हो जायगा। पहले ही कहा जा चुका है कि शिर द्वारा शक्ति का आकर्षण एवं प्रवेश होता है, अतः मलत्याग के समय दूषित वायु, विकार तथा मल के कीटाणुओं का प्रभाव न पड़े, इस लिए शिर वेष्ठित करके शौच जाने का विधान किया गया है। दूसरी बात यह है कि शिर के पास की नाड़ी

वस्त्र—वेष्ठित होने से दवाव पड़ने के कारण शौचक्रिया स्वच्छ और ठीक हो जाती है। शौच के बाद मल के ऊपर मिट्टी डाल देना इसलिए कहा है, जिससे उसके कीटाणु तथा दूषित वायु बाहर न जा सके और उसका प्रभाव दूसरे के ऊपर न पड़ सके।

याज्ञवल्क्य स्मृति में कहा गया है कि—

दिवा सन्ध्या सुकर्णस्थ ब्रह्मसूत्र उदङ् मुखः ।
कुर्यान्मूत्र पुरीषे च रात्रौ चेद्दक्षिणा मुखः ॥
(याज्ञ०)

अर्थात् जनेऊ को दायें कान पर चढ़ाकर प्रातःकाल उत्तर दिशा की ओर मुख करके तथा सायंकाल दक्षिणाभिमुख होकर मल मूत्र का त्याग करे।

इसी प्रकार और भी लिखा है कि—

दश हस्तान् परित्यज्य मूत्रं कुर्याज्जलाशये।
शत हस्तान् पुरीषं तु तीर्थे नद्यां चतुर्गुणाम् ॥
(आश्वलायन)

अर्थात् तालाव आदि जलाशय से दश हाथ की दूरी छोड़ कर मल विसर्जन करना चाहिये। इसी भांति तीर्थ (मंदिर, विद्यालय आदि) स्थान और नदी से चालीस हाथ दूर मूत्र और चार सौ हाथ दूर मल विसर्जन करने जाना चाहिये।

यह शास्त्र की आज्ञा है, इसमें लाभ तथा वैज्ञानिक रहस्य यह है कि मल दूर त्याग करने से जलाशय तथा मंदिर, विद्यालय आदि के किनारे का वायु मण्डल दूषित नहीं होगा, दुर्गन्ध

भी नहीं फैलेगी। प्रात:काल के समय लोग स्नान तथा मन्दिर में दर्शन, विद्यालय में पठन के लिए जाते हैं, स्वास्थ्य की दृष्टि से वायु सेवन का तथा नित्य कर्म की दृष्टि से यह स्नान, ध्यान, पठन पाठन आदि का समय होता है और इन कर्मों के लिये जलाशय, तीर्थ स्थान आदि पर ही विशेषकर लोग जाते हैं। अत: यदि इन स्थानों के आस पास मल मूत्र विसर्जन होगा तो न तो हमारा स्वास्थ्य ही ठीक रह सकेगा और न हमारे दैनिक आवश्यक कर्म ही सुचारु रूप से सम्पन्न हो सकेंगे। इसके अतिरिक्त मल मूत्र का अंश तथा दूषित प्रभाव भी जलाशय पर नहीं पड़ सकेगा। जल से सभी लोग स्नान करते, तथा उसे पान करते हैं अत: दूषित होने से बचाने के लिए तथा पवित्रता की रक्षा करने के लिये ही ऋषियों ने ऐसी व्यवस्था धर्म रूप से की है। इससे हमारा ही कल्याण है।

यह ब्राह्म मुहूर्त में जागरण एवं सूर्योदय के पूर्व स्नान करने विलक्षण चमत्कार है।

शौच विधान में विज्ञान

शौच के पश्चात् निर्मल जल तथा मिट्टी से हाथ धोना कहा है, कारण यह है कि मल भी विकृत पृथ्वीतत्व है, और मिट्टी भी पृथ्वीतत्व है, अत: हाथों की दुर्गन्ध पृथ्वी की मिट्टी से जिस प्रकार दूर हो सकती है, उस प्रकार साबुन आदि किसी अन्य वस्तु से नहीं। तथा साबुन आदि में दूषित हाथ लगाने से साबुन स्वयं दूषित हो जाता है। एक बात और भी है-पित्त के संयोग से मल में तेल की तरह एक प्रकार का लस दार पदार्थ रहता है जो केवल मिट्टी से ही छूटता है, अत: मिट्टी से ही हाथ धोना चाहिए और बाद में पैरों को भी

तीन बार मिट्टी लगाकर धोना चाहिए क्योंकि शौच जाने के बाद तत्काल थोड़ी सी उष्णता उत्पन्न हो जाती है, वह तलवे को धोने से जाती रहती है और उदर ठीक रीति से रहता है। मूत्रत्याग के पश्चात् ठण्ढे जल से इन्द्रिय धोना कहा गया है। कारण यह है कि मूत्र अत्यन्त पित्तप्रधान होने के कारण उसमें विषैली वस्तुएं रहती हैं और धोती आदि में यदि मूत्रबिन्दु रह गये, तो अनेक रोग उत्पन्न हो जाते हैं। ठण्ढे जल से धो देने से उत्तेजना भी दूर हो जाती है तथा कीटाणु भी नष्ट हो जाते हैं। एक स्थान पर कई लोगों को मूत्र न त्यागना चाहिए, इससे उपदंश आदि संक्रामक विकार हो जाते हैं, क्योंकि मूत्र की धार का तारतम्य एक ही स्थान पर रहने के कारण इसके रोग वाले कीटाणु धार के सहारे एक दूसरे में संक्रमित हो जाते हैं। यदि जल लेने का अभ्यास होगा, तो इस दोष का भी निवारण हो जायगा।

इत्यादि आचार के विषय में अनेक प्रमाण भरे पड़े हैं। हमें अब उनकी वैज्ञानिक चर्चा करनी है।

प्रातःस्नान

ब्राह्म मुहूर्त में जागरण के विषय में शास्त्र का प्रमाण दिया ही जा चुका है। अब प्रात: स्नान का वर्णन किया जा रहा है। इसमें वैज्ञानिक विशेषता यह है कि रात्रि भर चन्द्रामृत से जो चन्द्रमा की किरणें जल में प्रवेश करती हैं, उसके प्रभाव से जल पुष्ट हो जाता है। सूर्योदय होने पर वह सब गुण सूर्य की किरणों द्वारा आकृष्ट हो जाता है; अत: जो व्यक्ति सूर्योदय के पूर्व स्नान करेगा, वही जल के अमृतमय गुणों का लाभ उठा सकेगा।

इसी प्रकार दिन भर सूर्य की जो प्राणशक्ति किरणों द्वारा जल में प्रवेश करती रहती है, वह रात्रि को प्रकृति के नियमानुसार शीत के कारण उसी में रह जाती है (और इसीलिए शीतकाल में प्रात:काल का जल गर्म रहता है) अत: प्रात:-स्नान से सूर्य तथा चन्द्रमा दोनों की शक्ति से लाभ होगा और इसके बाद फिर एक से भी नहीं। एक और विशेष बात यह है कि जल में रहने वाले रोग सम्बन्धी कीटाणु सूर्योदय के पहले गम्भीर जल की तह में रहते हैं तथा सूर्योदय होने के बाद ऊपर उठ आते हैं। अत: प्रात: स्नान से उनके संस्पर्श से भी बचा जा सकता है। इसके अतिरिक्त प्रात: स्नान एवं जागरण से आलस्य भी समूल नष्ट हो जाता है, शरीर में स्फूर्ति रहती है तथा रूप, तेज, बल, पवित्रता, आरोग्य, आयुवृद्धि, मेधाशक्ति-परिवर्द्धन, लोभहीनता आदि अनेक सद्गुणसमूह आते हैं, जैसा कि कहा है—

"गुणा दश स्नान परस्य मध्ये
रूपं च तेजश्च बलं च शौचम्।
आयुष्यमारोग्यमलोलुपत्वं दु:स्व-
प्नघातश्च तपश्च मेधा॥"

(दक्षस्मृति २।१४)

प्रात:काल का नित्य स्नान

दक्ष स्मृति में आया है कि जिस समय प्रात:काल हो जाय तब यथार्थ शौच करके, दन्तधावन करे तदुपरान्त स्नान करे। यह शरीर नौ छिद्रों से युक्त और अत्यन्त मलीन है। दिन

और रात इसमें से मल मूत्र क्षरण होता रहता है। प्रातःकाल स्नान करने से इस शरीर की शुद्धि होती है। जब मनुष्य सो जाता है तब उसकी इन्द्रियां ग्लानि को प्राप्त होती हैं और मैल उनमें से क्षरित होता रहता है तथा एकत्र हो जाता है। उत्तम मध्यम सभी अंग एक हो जाते हैं और शयन करने के बाद उठा हुआ मनुष्य विविधि भांति के पसीने आदि की गन्दगी से परिपूर्ण हो जाता है, बिना स्नान किये उसमें पवित्रता नहीं आती। इसलिए बिना स्नान किये जप, हवन आदि कर्म नहीं करने चाहिये। (दक्षस्मृति अध्याय २। ६-१०)।

इस प्रकार प्रातःकाल के नित्य स्नान का विधान शास्त्रों ने किया है। अब उसकी उपयोगिता तथा लाभ पर प्रकाश डाला जा रहा है।

प्रातः स्नान करने से मनुष्य यह अनुभव करने लगता है कि मैंने एक बहुत बड़े काम से निवृत्ति पा ली। साथ ही स्नान करने के बाद सन्ध्या वन्दन, हवन पूजन, स्वाध्याय आदि के नित्य कर्म भी साथ ही सम्पन्न हो जाते हैं अन्यथा स्नान में यदि जरा सा भी प्रमाद किया गया तो सारे कर्म उसके छूट जाते हैं, इसलिये प्रातः स्नान उचित ही है। शंख स्मृति में कहा गया है–

अस्नातः पुरुषोऽनर्हो जप्याग्नि हवनादिषु।
प्रातः स्नानं तदर्थं च नित्यस्नानं प्रकीर्तितम्।।

(शंख स्मृति ८।२)

अर्थात् बिना स्नान किये मनुष्य जप, संध्या तथा अग्निहोत्र आदि कर्म करने के अयोग्य होता है इसलिए प्रातःकाल का स्नान नित्य स्नान कहलाता है।

शौचादि क्रिया करने के बाद स्नान करते ही मनुष्य पवित्रता और आनन्द का अनुभव करने लगता है।

भौतिक लाभ की दृष्टि से आयुर्वेद शास्त्र सुश्रुत संहिता में लिखा है कि—

निद्रादाहश्रम हरं स्वेद कण्डू तृषापहम् ।
हृद्यं मल हरं श्रेष्ठं सर्वेन्द्रिय विशोधनम् ॥
तन्द्रायाथोपशमनं पुष्टिदं पुंसत्व वर्द्धनम् ।
रक्तप्रसादनं चापि स्नान मग्नेश्च दीपनम् ॥
(सु०चि०स्थान ११७।११८)

अर्थात् स्नान से निद्रा, दाह, थकावट, पसीना, तथा प्यास दूर होती है। स्नान हृदय को हितकर मैल को दूर करने में श्रेष्ठ तथा समस्त इन्द्रियों का शोधन करने वाला होता है। तन्द्रा (आलस्य अथवा ऊंघना) कष्ट निवारक, पुष्टिकर्त्ता, पुरुषत्ववर्द्धक, रक्त शोधक और जठराग्नि को प्रदीप्त करने वाला है। चरक में भी लिखा है कि–

दौर्गन्ध्यं गौरवं तन्द्रा कण्डूमलमरोचकम् ।
स्वेदं वीभत्सतां हन्ति शरीर परिमार्जनम् ॥

अर्थात् स्नान देह दुर्गन्ध नाशक, शरीर के भारीपन को दूर करने वाला, तन्द्रा (शरीर में निद्रावत् क्लान्ति होना), खुजली, मैल, मन की अरुचि तथा पसीना एवं देह की कुरूपता को नष्ट करता है। जो लोग ढोंग समझकर अथवा आलस्यवश नित्य स्नान नहीं करते उन्हें स्नान के गुण व लाभ समझ लेने चाहिये और नित्य प्रातः स्नान अवश्य करना चाहिये।

सन्ध्या-वन्दन

स्नान के पश्चात् सन्ध्यावन्दनादि का क्रम शास्त्रों में कहा गया है। यह नित्य क्रिया है। इससे बड़ा लाभ है। रात्रि या दिन में जो भी अज्ञानकृत पाप होता है वह सन्ध्या के द्वारा नष्ट हो जाता है तथा अन्त:करण निर्मल, शुद्ध और पवित्र हो जाता है। वैसे भी देखिये कि किसी मशीन को चलाने तथा ठीक गतिशील रखने के लिये हमें उसकी सफाई रखनी पड़ती ही है चाहे जितनी सावधानी बरती जाय अन्त:करण में नित्य के व्यवहार से कुछ न कुछ मलिनता आती ही है, अत: सन्ध्योपासन द्वारा उसका निवारण करना परम कर्त्तव्य है। घर में अगर झाड़ू न लगाई जाय तो कूड़ा आ ही जाता है, शरीर में प्रतिक्षण मैल बनता ही रहता है और वह इन्द्रियों द्वारा निकलता रहता है इसी प्रकार अन्त:करण का मैल सन्ध्याद्वारा दूर होता है। सन्ध्या से दीर्घ आयु, प्रज्ञा, यश, कीर्ति तथा ब्रह्मतेज की प्राप्ति होती है। मनु महाराज कहते हैं -

ऋषयो दीर्घ सन्ध्यत्वाद् दीर्घमायुरवाप्नुयुः।
प्रज्ञां यशश्च कीर्त्तिश्च ब्रह्मवर्चसमेव च ॥

इस प्रकार हमें शारीरिक शक्ति, बौद्धिकबल, ब्रह्मतेज तथा यश की प्राप्ति भी इसके द्वारा होती है। नित्य सन्ध्या करने से ध्यान द्वारा हम परमात्मा से सम्पर्क स्थापित करते हैं। सन्ध्या में आचमन, मार्जन, प्राणायाम, अघमर्षण, उपस्थान आदि क्रियाओं में बड़ा रहस्य छिपा है और बड़े लाभ निहित हैं। संध्या में आसन पर बैठकर प्राणायाम के द्वारा रोग और पाप का नाश होता है। कहा गया है--

आसनेन रुजंहन्ति प्राणायामेन पातकम् ।

इस शरीर रूपी यन्त्र में सन्ध्या द्वारा हमें, शारीरिक शुद्धि, मानसिक पवित्रता तथा बौद्धिक प्रखरता और ब्रह्मवर्चस के साथ साथ आध्यात्मिक शक्ति की प्राप्ति होती है। सन्ध्या के बाद गायत्री जप का विधान है। इससे बुद्धि को प्रेरणा मिलती है।

गायत्री वेदमाता है, यह बुद्धि को प्रेरणा देने वाली, तेज-स्वरूप ज्ञान प्रदायिनी है। इसके जप से बड़ी शक्ति प्राप्त होती है। लौकिक सिद्धियां भी गायत्री के अनुष्ठान से प्राप्त हो जाती हैं।

गायत्री के समय उपासना तो हो ही जाती है। जिस प्रकार अग्नि में पड़ने से लोहा धीरे धीरे गरम हो जाता है उसी प्रकार गायत्री के दिव्य तेज को धारण करके साधक ब्रह्मतेज से परि-पूर्ण हो जाता है, उसके सारे कलुष विध्वंस हो जाते हैं। उसका चेहरा तेज से चमचमाने लगता है। जिस प्रकार सूर्य की किरणें धूप में बैठे हुए व्यक्ति पर पड़ती हैं और धीरे धीरे उसकी उष्णता का प्रवेश उसमें होने लगता है उसी प्रकार गायत्री माता की ज्योतिर्मयी शक्ति और तेज साधक के शरीर, मन और बुद्धि पर पड़ता है।

इस प्रकार सन्ध्या में कर्म, उपासना, ज्ञान, प्राणायाम, जप तथा ध्यान आदि की सभी क्रियायें सम्पन्न हो जाती हैं और नित्य का विधान होने से मनुष्य उसके द्वारा सभी लाभ उठा लेता है।

सन्ध्या वन्दन की क्रिया के साथ साथ फिर सूर्य्य को अर्घ्य दान की बात सनातन धर्म शास्त्र में कही गयी है। उसमें भी बड़ा रहस्य है।

सूर्य्य अर्घ्य दान

जिस समय हम सूर्य को अर्घ्य दान देते हैं उस समय जल की धारा पृथ्वी (या जल) पर पड़ती है। सामने से सूर्य की किरणें उस अर्घ्य धारा के जल पर पड़कर उसके अन्दर से पास करके (बेध करके) हमारे ऊपर तथा सामने आंखों पर पड़ती हैं। उससे हमारी नेत्र ज्योति बढ़ती है तथा नेत्रों के रोग दूर होते हैं।

इसमें वैज्ञानिक रहस्य यह है कि सूर्य संसार के नेत्र हैं, हमारे नेत्रों में भी सूर्य के तेज का ही प्रकाश है। सूर्य में सातों रंग होते हैं, विज्ञान से यह सिद्ध है कि जिस वस्तु पर सूर्य की सातों किरणें पड़कर वापस नहीं लौटतीं उस वस्तु का रंग काला होता है, उसीमें किरणें प्रवेश कर जाती हैं और जहां से सारी किरणें वापस चली जाती हैं उसका रंग सफेद होता है। हमारी आंख की काली पूतरी में सूर्य की सारी किरणें जल के बीच से पास होकर (बेधकर) जल से उत्पन्न विद्युत शक्ति का और भी वेग तथा प्रभाव लेकर प्रवेश कर जाती हैं और अपनी जीवनदायिनी पोषण शक्ति प्रदानकरती हैं। जल धारा के बीच में से किरणों का आना एक विशेष लाभदायक विद्युत्-शक्ति को उत्पन्न करके लाभ पहुंचाता है और तत्सम्बन्धी सारी कमी को पूरा करता है।

सूर्य स्नान वैसे भी प्राकृतिक चिकित्सा में बहुत ही लाभ-दायक बताया गया है। हमारी इस धार्मिक क्रिया में नित्य ही सूर्य स्नान का वह फल तथा लाभ अनायास ही प्राप्त हो जाता है। सूर्य स्नान से राजयक्ष्मा आदि भयंकर रोगों के कीटाणु

भी नष्ट हो जाते हैं। सूर्य की रश्मियों से चिकित्सा भी की जाती है। सनातन धर्म में सन्ध्या के साथ सूर्य की आराधना बताई गई है। कहा गया है—

'ऋषयो दीर्घ सन्ध्यत्वाद् दीर्घमायुरवाप्नुयुः।
प्रज्ञां यशश्च कीर्तिं च ब्रह्मवर्चसमेव च॥'
(मनु० ४।९४)

अर्थात् ऋषियों ने दीर्घ काल तक संध्या करके दीर्घ आयु, बुद्धि, यश कीर्ति तथा ब्रह्मचर्य की शक्ति को प्राप्त किया।

सूर्य भगवान्, सविता देवता हमारी बुद्धि के प्रेरक हैं–

'धियो यो नः प्रचोदयात्'

गायत्री मन्त्र में आता ही है। वेद में कहा गया है–

'सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च'
(यजु०७।४२)

अर्थात् सूर्य स्थावर जंगम पदार्थों का आत्मा है। सूर्य भगवान के प्रकाश से ही सारा जगत् प्रकाशित तथा अनुप्राणित होकर कार्यशील होता है। अतः धार्मिक दृष्टि से यदि हम प्राण, तेज तथा बुद्धि के अधिष्ठाता तथा प्रेरक सूर्य भगवान की आराधना करके अर्घ्य दान करें तो उचित ही है और इसमें हमारा लाभ ही होता है। इस मन्त्र से अर्घ्यदान करना चाहिये:-

एहि सूर्य सहस्रांशो तेजो राशि जगत्पते।
अनुकम्पय मां भक्त्या गृहणार्घं दिवाकरः॥

अर्थात् हे सहस्र किरणों वाले, तेज की राशि, जगत् के स्वामी सूर्य भगवान् मेरे ऊपर कृपा कीजिये और भक्ति के द्वारा प्रदान किया हुआ यह अर्घ्य स्वीकार कीजिये।

उपासना रहस्य

पूर्वाभिमुख अथवा उत्तराभिमुख होकर हम उपासना करते हैं, उसका भी रहस्य है। वह यह है कि पूर्व से सौर शक्ति तथा उत्तर से पार्थिव विद्युत्शक्ति का बल हमें प्राप्त होता है। पूर्व की ओर से तो श्री सूर्य नारायण निकलते ही हैं उनकी दिव्य गुणकारी रोगनाशक किरणें हमारे सामने से आती हैं, अत: सूर्य नारायण की शक्ति का प्रभाव हमारे ऊपर पड़ता है तथा उत्तर दिशा की ओर से उत्तराखण्ड के महात्माओं के विराट् मन के साथ संयोग होने के कारण उनकी साधना शक्ति हमारी उपासना में सहायता करती है।

कुशासन

उपासना हम किसी आसन पर बैठ कर करते हैं। कुशासन, मृगचर्म, व्याघ्रचर्म तथा कम्बल आदि का आसन प्रयोग में लाया जाता है इनका महत्व भी शास्त्रों में वर्णन किया गया है। उपासना के समय इन्द्रियां संयत तथा मन स्थिर और चित्त को एकाग्र करना होता है। अत: उपासना की क्रिया से एक प्रकार की विद्युत्धारा बहने लगती है, साधना की शक्ति केन्द्रित होकर घनीभूत हो जाती है, वह पृथ्वी पर बैठने से पृथ्वी में ही समा कर चली जाती है क्योंकि पृथ्वी में आकर्षण शक्ति है तथा शरीर में भी पार्थिवतत्व की प्रधानता है, इसलिये आवश्यक है कि किसी आसन के ऊपर बैठा जाय।

आसन में कुशासन का बहुत बड़ा महत्व है। तथा वह सर्व सुलभ भी है, जंगल में कुश बहुत मिलते हैं, ऋषि लोग जंगल में तपस्या करते थे अत: उन्हें भी कोई कठिनाई नहीं थी। कुशासन में बहुत गुण हैं। एक विशेष बात यह है कि कुशा नानकण्डक्टर पदार्थ

है अर्थात् विद्युत् प्रवाह इसके बीच से संक्रमण नहीं कर सकता। कुशासन पर बैठने की शक्ति साधना के समय जितनी केन्द्रित व घनीभूत होगी वह सबकी सब साधक के शरीर में ही सुरक्षित रहेगी, पृथ्वी अपनी आकर्षण शक्ति से नहीं खींच पावेगी। बाहर का दूषित प्रभाव भी कुशा पर नहीं पड़ता। इसीलिये सूर्य अथवा चन्द्रग्रहण आदि के अवसर पर वस्तुओं तथा पदार्थों में कुशा रख देते हैं जिससे कि बाहर का दूषित प्रभाव उस पर संक्रमित होकर न पड़ सके। हाथों में भी कुशा की पवित्री पूजा के अवसर तथा धार्मिक कृत्यों पर इसीलिए धारण की जाती हैं कि बाहरी दूषित प्रभाव उस पर न पड़ सके तथा पवित्रता से वह कर्म सम्पन्न हो जावे। श्रीमद्भगवद् गीता में आसन के विषय में भगवान् श्री कृष्णचन्द्र जी ने कहा है कि–

'चैलाजिन कुशोत्तरम्' (गीता ६।११)

अर्थात् कुशा, मृगचर्म और वस्त्र क्रम से ऊपर रखना चाहिये। इसमें सबसे नीचे कुश का ही वर्णन है। इस प्रकार कुशासन सर्व सुलभ, सस्ता, गुणकारी तथा साधना में लाभदायक एवं उपयोगी है, अतः इसका प्रयोग करना चाहिए। कुशासन पर बैठने से साधना की शक्ति कुशासन को भेदन करके बाहर नहीं जा सकेगी बल्कि वह घनीभूत होकर साधक को सहायता करेगी।

अन्य आसन

इसके अतिरिक्त और भी बहुत से आसनों का वर्णन शास्त्र में किया गया है। स्मृति में कहा गया है–

'कृष्णाजिने ज्ञानसिद्धिर्मोक्ष श्री व्याघ्रचर्मणि।
कुशासने व्याधिनाशः सर्वेष्टश्चित्त कम्बलः॥'

अर्थात् काले मृगचर्म पर बैठने से व्याधि नष्ट होती है और चित्रित कम्बल पर बैठने से सम्पूर्ण इष्ट कामनायें पूर्ण होती हैं। इसमें वैज्ञानिक रहस्य यह है कि जिस पशु का चर्म होता है, वह अपने गुण को साधक के अन्दर से खींच लेता है, जैसे व्याघ्र क्रोधी होता है तो वह साधक के क्रोध को अपने अन्दर खींच लेता है इससे साधक का क्रोध नष्ट हो जाता है। इसी प्रकार मृग का चर्म साधक की चंचलता को खींच लेता है क्योंकि मृग चंचल होता है अतः वह चंचलता को ले लेता है और साधक का मन स्थिर हो जाता है। साधक जब इन आसनों पर बैठता है तब उसकी तत्सम्बन्धी इन दुर्वृत्तियों का शमन हो जाता है और उसकी साधन शक्ति आसन में निहित होने के कारण उसे सहायता करती है। यह भिन्न भिन्न प्रकार के आसनों का वैज्ञानिक रहस्य है।

पादुका-धारण

इसी प्रकार पादुका भी इसीलिए धारण की जाती है कि साधक यदि हर समय जपादि का अभ्यास करता है, तो उसकी शक्ति जागृत हो जाने के कारण उसकी विद्युत्शक्ति पादुका धारण करने से पृथ्वी में नहीं जा पाती, अपितु उसी में रहती है, क्योंकि विद्युत्शक्ति काष्ठ का भेदन नहीं कर सकती। इसके अतिरिक्त पादुका पवित्र भी है तथा स्वास्थ्य के लिए भी लाभकारी है। 'भावप्रकाश' में कहा है—

'पादुकाधारणं कुर्यात् पूर्वं भोजनतः परम्।
पादरोगहरं वृष्यं चक्षुष्यं चायुषो हितम्॥'

अर्थात् भोजन करने के प्रथम ओर पश्चात् खड़ाऊं धारण करने से पैरों के रोग दूर होते हैं, शक्ति प्राप्त होती है। पादुका नेत्रों को हितकारी और आयु को बढ़ाने वाली है।

'निघण्टु' मिश्रवर्ग में भी कहा है—

'पादत्रधारणं वृष्यमौजस्यं चक्षुषो हितम्।
सुखप्रचारमायुष्यं बल्यं पादरुजापहम्॥"

अर्थात् पदत्राण-धारण वीर्य तथा ओज की वृद्धि करने वाला, नेत्रों को हितकारी, गमन में सुखकर, आयु बलवर्धक तथा पैरों के रोग को दूर करता है। विशेष बात यह है कि पैर के अंगूठे के पास एक नाड़ी है, जो पादुका की खूंटी से दबी रहने के कारण वीर्यरक्षा तथा ब्रह्मचर्य-पालन में बड़ी लाभदायक है, इससे इन्द्रियदमन भी होता है। तथा अण्डकोश भी नहीं बढ़ते।

इसके अतिरिक्त पादुका धारण किये हुये व्यक्ति पर बिजली का भी प्रभाव नहीं पड़ता। आप पादुका धारण किये हुये हों और आपको किसी प्रकार बिजली का स्पर्श हो जाय तो आपको उसका करेन्ट नहीं पास करेगा। इस प्रकार बिजली के करेन्ट से भी पादुका रक्षा करती है। पादुका में केवल लकड़ी होने के कारण वह पवित्र तो है ही, घर में आप हर स्थान पर उसे पहने हुये जा सकते हैं। पर ध्यान रहे कि यह विशेषता लकड़ी की पादुका में लकड़ी की ही लगी हुई खूंटी की है। लकड़ी की पादुका में जो अन्य रबड़ व नेवाड़ आदि के पट्ठे लगा दिये जाते हैं उनमें यह विशेषता नहीं है, क्योंकि उसमें न तो वह पवित्रता ही है और न करेन्ट रोकने की शक्ति ही। तथा जो अगूंठे की नस दबने से लाभ होता है वह भी

नहीं हो पावेगा। इसलिये लकड़ी की खूंटी वाली पादुका ही प्रशस्त तथा लाभदायक है।

चन्दन लगाने में वैज्ञानिकता

चन्दन लगाने में भी रहस्य है, प्रथम तो मस्तिष्क में शीतलता रहती है, शिरोव्यथा का नाश होता है, कान्ति, ओज तथा तेज की वृद्धि होती है। योग-क्रिया-सम्बद्ध एक विशेष रहस्य यह है कि भृकुटी के बीच में मस्तक के नीचे 'आज्ञा' नामक एक चक्र है, उस स्थान पर चन्दन लगाने से वह चक्र शीघ्र जागृत होकर उसका भेदन हो जाता है, जो साधक की साधना में लाभदायक है। इसी प्रकार कण्ठ में चन्दन लगाने से 'विशुद्ध चक्र' का, हृदय में लगाने से 'अनाहत चक्र' का एवं नाभिस्थान में लगाने से 'मणिपूर' आदि चक्रों का जागरण एवं भेदन होता है और उनमें सहायता प्राप्त होती है। इसी-लिए उक्त स्थानों में चन्दन लगाया जाता है।

वैज्ञानिक दृष्टि से भी चन्दन लगाना स्वास्थ्य के लिये लाभदायक है। यह संक्रामक रोगों का नाशक है। इसकी सुगन्ध से दूषित कीटाणु दूर होते हैं, मन प्रसन्न रहता है तथा अन्य लोगों पर भी इसकी सुगन्ध का प्रभाव पड़ता है। चन्दन लगाने वाले व्यक्ति के मुख की कान्ति चमकती है, शोभा बढ़ती है और मुंहासे आदि भी नहीं होते। शरीर के विभिन्न अंगों में लगाने के कारण दुर्गन्ध को नाश करता हुआ यह स्वास्थ्य प्रदान करता है।

तथा आध्यात्मिक दृष्टि से यह सात्विक भाव को उत्पन्न करता हुआ भगवद् भक्ति की ओर, और भी अधिक प्रेरित करता है।

रुद्राक्ष का प्रभाव

इसी प्रकार रुद्राक्ष की माला से जप करने में तथा रुद्राक्ष धारण करने में भी बहुत गुण हैं। रुद्राक्ष की माला से जप करने में भगवन्नाम के स्मरण रूप आध्यात्मिक लाभ के साथ साथ वैज्ञानिक लाभ यह होता है कि माला और अंगुली के परस्पर संघर्षण से उत्पन्न जो उष्णता होती है उससे वहां एक प्रकार की विद्युत् शक्ति का सृजन हो जाता है जो रुद्राक्ष का गुण लिये हुये होती है और जापक पर अपना प्रभाव डालती है।

इसके अतिरिक्त रुद्राक्ष धारण करने वाले व्यक्ति को रक्त चाप यानी ब्लड प्रेशर की बीमारी नहीं होती। बीमारी होने पर उसे धारण करने से ब्लड प्रेशर पर लाभ भी होता है, तथा अन्य रोगों पर भी उसका प्रभाव पड़ता है जिससे रोग नाश हो जाता है, परन्तु रुद्राक्ष असली होना चाहिये।

रुद्राक्ष को लोग गले में, कलाई में, तथा हाथ में दण्ड पर भी धारण करते हैं। भगवद् भक्ति की भावना उत्पादक होने के साथ साथ इसमें वैज्ञानिक रहस्य तथा लाभ यह है कि कण्ठ, जहां पर धुकधुकी चलती है, कलाई, जहां पर नाड़ी चलती है तथा दण्ड जहां पर रक्त चाप का स्थान रहता है (क्योंकि उसी स्थान पर फीता बांधकर और आला लगाकर डाक्टर लोग ब्लड प्रेशर की परीक्षा करते हैं) यह सब केन्द्र स्थान हैं। अत: इन केन्द्र स्थानों पर रुद्राक्ष बंधा रहने से उसका विलक्षण प्रभाव शरीर पर बराबर पड़ा करता है। उसकी रोगनाशिनी शक्ति बराबर असर करती रहती है।

इसके अतिरिक्त उसे पहने हुये स्नान करने से उस पर जो जल धारा गिरती है उस जल के प्रभाव से एक और भी विलक्षण विद्युत् शक्ति उत्पन्न हो जाती है जिसका प्रभाव शरीर पर सात्विक तथा रोगनाशक पड़ता है।

चेचक तथा मोती झाला बुखार में रुद्राक्ष को घिस कर पिलाने से लाभ होता है इससे इस रोग को नाश करने वाली शक्ति भी रुद्राक्ष में सिद्ध है। अतः जो रुद्राक्ष धारण करेगा उसे यह रोग नहीं सतायेंगे। हृदय रोग, दिल की धड़कन रुद्राक्ष धारण करने से नहीं होती। और भी बहुत से गुण रुद्राक्ष में हैं।

शिवपुराण तथा रुद्राक्ष जाबालोपनिषद् में इसकी बहुत महिमा कही गयी है। तथा इसके धारण करने की विधि, फल और माहात्म्य भी वर्णन किया गया है।

भगवच्चरणामृत पान

हम भगवान का चरणामृत पान करते हैं इसमें भी परम कल्याणकारी रहस्य छिपा हुआ है। धार्मिक दृष्टि से भगवद् भक्ति के साथ साथ हमें वैज्ञानिक दृष्टि से यह लाभ होता है कि शालिग्राम की मूर्ति कसौटी पत्थर की होने के कारण उसमें स्वर्ण का अंश होता है, तभी तो कसौटी के ऊपर स्वर्ण की रेखा खिंच जाती है। उस शालिग्राम की मूर्ति को गंगा जल से स्नान कराया जाता है, चन्दन और केशर आदि का मिश्रण उसमें रहता है, तुलसी चढ़ाई जाती है—इस प्रकार स्वर्ण, चन्दन, तुलसी, केशर और गंगाजल के योग से उसमें विलक्षण शक्ति उत्पन्न हो जाती है जो आयुवर्द्धक तथा रोग व व्याधि नाशक होती है। शालिग्राम

इसके अतिरिक्त उसे पहने हुये स्नान करने से उस पर जो जल धारा गिरती है उस जल के प्रभाव से एक और भी विलक्षण विद्युत् शक्ति उत्पन्न हो जाती है जिसका प्रभाव शरीर पर सात्विक तथा रोगनाशक पड़ता है।

चेचक तथा मोती झाला बुखार में रुद्राक्ष को घिस कर पिलाने से लाभ होता है इससे इस रोग को नाश करने वाली शक्ति भी रुद्राक्ष में सिद्ध है। अत: जो रुद्राक्ष धारण करेगा उसे यह रोग नहीं सतायेंगे। हृदय रोग, दिल की धड़कन रुद्राक्ष धारण करने से नहीं होती। और भी बहुत से गुण रुद्राक्ष में हैं।

शिवपुराण तथा रुद्राक्ष जाबालोपनिषद् में इसकी बहुत महिमा कही गयी है। तथा इसके धारण करने की विधि, फल और माहात्म्य भी वर्णन किया गया है।

भगवच्चरणामृत पान

हम भगवान का चरणामृत पान करते हैं इसमें भी परम कल्याणकारी रहस्य छिपा हुआ है। धार्मिक दृष्टि से भगवद् भक्ति के साथ साथ हमें वैज्ञानिक दृष्टि से यह लाभ होता है कि शालिग्राम की मूर्ति कसौटी पत्थर की होने के कारण उसमें स्वर्ण का अंश होता है, तभी तो कसौटी के ऊपर स्वर्ण की रेखा खिंच जाती है। उस शालिग्राम की मूर्ति को गंगा जल से स्नान कराया जाता है, चन्दन और केशर आदि का मिश्रण उसमें रहता है, तुलसी चढ़ाई जाती है—इस प्रकार स्वर्ण, चन्दन, तुलसी, केशर और गंगाजल के योग से उसमें विलक्षण शक्ति उत्पन्न हो जाती है जो आयुवर्द्धक तथा रोग व व्याधि नाशक होती है। शालिग्राम

गण्डकी नदी का एक ऐसा पदार्थ होता है जिसमें छोटे छोटे सुवर्ण के कण भी रहते हैं। स्वर्ण में वैसे भी आयुवर्द्धक, बलप्रदायिनी शक्ति होती है, तभी तो स्वर्ण भस्म आदि का प्रयोग वैद्य लोग करते हैं।

इसके अतिरिक्त ताम्रपात्र में वह चरणामृत बना कर रक्खा जाता है। तांबे की रोगनाशिनी, विद्युत्-उत्पादनी शक्ति तो विज्ञान से भी प्रमाणित तथा प्रसिद्ध है। अत: ताम्रपात्र में रक्खा हुआ इतना सुन्दर पवित्र चरणामृत अवश्य ही नि:सन्देह कल्याणकारी होता है। तभी तो चरणामृत ग्रहण करते समय

"अकाल मृत्यु हरणं सर्व व्याधिविनाशनम्।
विष्णु पादोदकं पीत्वा पुनर्जन्म न विद्यते ॥"

यह श्लोक पढ़ा जाता है।

शंखनाद

इसी प्रकार पूजन के समय जो शंखनाद किया जाता है उसमें भी रोगनिवारण की बहुत बड़ी शक्ति है। शंख बजाने वाले व्यक्ति को श्वास रोकनी पड़ती है, इस प्रकार प्राणायाम की यह एक बड़ी क्रिया सी हो जाती है जिसका प्रभाव फेफड़े पर श्वास की प्रक्रिया पर पड़ता है जिसके फलस्वरूप फेफड़े संबंधी कोई बीमारी नहीं हो पाती। इससे श्वास का रोग तथा टी० बी० आदि नहीं हो पाती। शंखध्वनि से वायुमण्डल में लहरें बड़े वेग से प्रकम्पित होती हैं जिससे दूषित कीटाणुओं का नाश होता है। वेद में आया है–

'शंखेन हत्वा रक्षांसि' (अथर्ववेद ४।१०।२)

इससे हम लोग जो यह कहते हैं कि शंखध्वनि से राक्षस भाग जाते हैं सो अन्य भयदायक राक्षस जो भागते हैं सो तो है ही, प्रत्यक्ष में यह संक्रामक विषाक्त रोगाणु रूपी राक्षस तो नष्ट ही हो जाते हैं। शंख बजाने वाले को गण्डमाला का भी रोग नहीं होता। उसका वक्षस्थल विशाल तथा फेफड़े बलवान हो जाते हैं।

पूजन आरती के बाद जो शंख में जल लेकर घुमाकर फेका जाता है तथा प्रक्षालन किया जाता है उस जल का भी बड़ा प्रभाव होता है। वैसे भी शंख की भस्म का प्रयोग वैद्य लोग करते हैं। इस प्रकार शंख से बहुत लाभ हैं।

घंटा आदि का विज्ञान

मंदिरों में जो घण्टा नाद होता है वह भी कीटाणु नाशक है तथा शुद्ध वातावरण का निर्माण करता है तभी तो मन्दिर में जाते ही मनुष्य में शुद्ध भावना तथा पवित्रता उदय होती है। घंटे की घनघनाहट वायुमण्डल में एक कम्पन पैदा करती है जिसके प्रभाव से दूषित कीटाणु नष्ट हो जाते हैं। यह इसका वैज्ञानिक तथा लाभदायक रहस्य है।

इसी प्रकार मंदिर में घड़ियाल आदि बजाने में भी रहस्य है। घंटा घड़ियाल तथा विजयघंट आदि बजाने के समय उसकी ध्वनि से जो कम्पन वायुमण्डल में होता है उससे सारे दूषित कीटाणु नष्ट हो जाते हैं। एक तो उसकी आवाज़ ही बहुत तेज़ होती है दूसरे उनके बजाने का भी एक ढंग तथा क्रम होता है जो एक विशेष प्रभाव डालता है। आप जानते हैं कि लड़ाई के समय का बाजा दूसरी ध्वनि से बजाया जाता है, मृत्यु के समय शोक का बाजा अन्य ध्वनि से बजाया जाता है तथा मंगल कार्यों

के समय बाजे की ध्वनि और ढंग की होती है। इन सबका अलग अलग प्रभाव पड़ता है। उसी प्रकार की भावना मनुष्य के हृदय में जागृत हो जाती है जिस प्रकार की ध्वनि बजाई जाती है। जिस समय मिलेट्री मार्च करती है उस समय पुल आदि के ऊपर कदम से कदम मिलाकर चलना वर्जित है, क्योंकि एक साथ ही शक्ति के घनीभूत तथा केन्द्रित होने से पुल आदि के टूटने का भय रहता है। इसी प्रकार एक साथ की हुई प्रत्येक क्रिया में बड़ा बल रहता है, प्रार्थना आदि एक साथ करने से भावना बड़ी बलवती हो जाती है और उसका बड़ा भारी प्रभाव पड़ता है। आधिभौतिक जगत में वायुमण्डल पर तथा आधिदैविक जगत में प्रार्थनाधिष्ठात्री देवता पर प्रभाव पड़ता है और आध्यात्मिक जगत में आत्मानुभूति में सहायता तथा बल प्राप्त होता है। घंटा घड़ियाल आदि जिस धातु (फूल आदि) के बने होते हैं उसकी भी अपनी अपनी विशेषता है-कि किस धातु के शब्द में किस प्रकार का कम्पन वायुमण्डल में होता है और किस ध्वनि अथवा किस रीति से बजाने में किस प्रकार की सर्किल वायुमण्डल में बनती है जो प्रभाव डालती है। यह सब पूजा विज्ञान का रहस्य हमारे सनातनधर्म में निहित है।

मूर्ति-पूजा-विज्ञान

सनातन धर्म में मूर्ति पूजा का विधान है। इसका रहस्य यह है कि मूर्ति की पूजा में हम पत्थर अथवा धातु की पूजा नहीं करते बल्कि उसमें स्थित परमात्मा की भावना करके इस प्रकार पूजा करते हैं कि मानो मूर्ति के रूप में वही देवता विराजमान है जिसकी कि हम प्रत्यक्ष पूजा कर रहे हैं। मूर्ति

में प्राण प्रतिष्ठा करके वेदमन्त्रों से विधिवत् संस्कार करके उसे महिमान्वित और इस योग्य बना दिया जाता है कि फिर उसमें पूज्य भावना हो जाती है और धीरे धीरे उसमें श्रद्धा केन्द्रित हो जाती है। मूर्ति को देखते ही मूर्ति के देवता के प्रति हमारा पूज्य भाव जागृत हो जाता है। इसी प्रकार हम वेद, गीता, रामायण तथा भागवत आदि धर्म ग्रन्थों को पूज्य मान कर उस पर फूल चढ़ाकर पूजा करते हैं, सो वैसे तो यह कागज की पुस्तक है परन्तु नहीं-उसमें लिखा जो ज्ञान है उस ज्ञान की पूजा की जाती है। हम उस समय यह विचार नहीं करते कि यह काग़ज की पुस्तक है बल्कि हमारे मन में यही विचार और श्रद्धा रहती है कि हम गीता अथवा रामायण के पवित्र ज्ञान तथा भगवत् कथा की पूजा कर रहे हैं। उसे भगवान् का वाङ्मय अथवा लीलामय रूप समझ कर ही हम उसकी पूजा करते हैं। इसी प्रकार हम चित्र की भी पूजा इसी भांति से करते हैं कि जिसका वह चित्र होता है उसे ही प्रत्यक्ष विराजमान समझ कर उसके प्रति श्रद्धा समर्पित करके हम उसकी पूजा अर्चना करते हैं। महात्मा गांधी जी आदि के चित्रों पर फूल माला चढ़ाकर वर्तमान में भी उनके प्रति इसी प्रकार से श्रद्धा समर्पित की जाती है और ऐसा भाव रक्खा जाता है कि मानो वे हमारे सामने साक्षात् विराजमान हैं और हम उनसे प्रेरणा प्राप्त कर रहे हैं।

श्रद्धेय महात्मा अथवा परमात्मा को जितनी श्रद्धा हम समर्पित करना चाहें अथवा भक्ति भाव तथा आदर हम देना चाहें मूर्ति अथवा चित्र को प्रतीक मानकर दे सकते हैं, हम षोडशोपचार पूजन तक करते हैं। हमें और कोई साधन नहीं

कि हम अपनी श्रद्धा प्रत्यक्ष रूप से भगवान् को समर्पित कर सकें। हम मूर्ति पूजा द्वारा भक्ति जागृत करके भगवत् कृपा प्राप्त करते हैं तथा साधना के पथ पर अग्रसर होकर अपना कल्याण पथ प्रशस्त करते हैं।

मूर्ति पूजा में मूर्ति को ईश्वर रूप या जिस देवता की वह मूर्ति है उसी देवता के प्रत्यक्ष रूप में देखना उत्तम है, मूर्ति में ईश्वर का ज्ञान मध्यम है तथा मूर्ति से ईश्वर का स्मरण साधारण कोटि में आता है। पूजा और उपासना में साधक ध्यान के द्वारा मन से इष्टदेव को अपने समीप लाता है, स्तोत्र वन्दना आदि से वाणी के निकट लाता है तथा पूजा अर्चा के द्वारा शरीर के निकट लाता है। इस प्रकार मन, वाणी तथा शरीर तीनों से इष्ट के साथ सान्निध्य स्थापित होता है।

जो लोग परमात्मा को सर्व व्यापक मानकर, प्रत्येक व्यक्ति तथा कण कण में उसका दर्शन करते हैं और सद्व्यवहार करते हैं उनका अहोभाग्य! और वे बहुत अच्छे हैं परन्तु हर आदमी तो ऐसा नहीं है। अतः साधना की दृष्टि से सनातनधर्म का यह विधान सर्वथा कल्याणकारी है।

इसमें कोई संशय नहीं कि सनातन धर्म में मूर्ति पूजा तथा देव पूजा का जो विधान ऋषियों ने किया है वह स्वयं साधना करके बड़े ही अनुभव से किया है। जिस माध्यम से उपासना की जाती है वह देखने में भले ही जड़ हो परन्तु उसके द्वारा उपासना चेतन तत्व की, की जाती है। इसके रहस्य पर अब कुछ प्रकाश डालने की चेष्टा की जाती है।

देवता विज्ञान

सृष्टि के उत्पादक तत्व अथवा प्रकृति जड़ कही जाती है। यह अचैतन्य उसका स्थूल रूप है पर जड़ को संचालन करने वाली भी कोई एक प्रेरणा रहती है। क्योंकि बिना प्रेरणा के कोई जड़ वस्तु कार्य नहीं कर सकती। रेल, मोटर, तार, वायुयान, तोप, बन्दूक आदि को चलाने वाला यदि कोई न हो तो ये शक्तिशाली वस्तुयें भी कुछ नहीं कर सकतीं। इन यन्त्रों के चलाने के लिये भी चैतन्य प्राणी की आवश्यकता रहती है। इसी प्रकार तत्वों को भी क्रियाशील रखने के लिये इनके पीछे चेतन शक्ति रहना आवश्यक है। अध्यात्म विद्या के भारतीय वैज्ञानिकों ने यह सदा से ही माना है कि प्रत्येक तत्व के पीछे एक चैतन्य शक्ति विराजमान है जो उसको प्रेरणा देती है और वह उसका अधिष्ठात्री देवता है। उस देवता का उस तत्व पर आधिपत्य रहता है। जैसे जल का वरुण देवता, अग्निदेवता आदि। इस प्रकार पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु आदि सभी का अधिष्ठात्री देवता मानकर उसकी उपासना सनातनधर्म में की जाती है। क्या हमारे ऋषि मुनि लकड़ी, पत्थर, पानी, मिट्टी, आग और वायु आदि की जड़ उपासना करते थे? ऋषियों ने बड़ी ऊंची शोध की थी, उनका विज्ञान बड़ा ही सूक्ष्म तथा महत्वपूर्ण था। आज के भौतिक वैज्ञानिक जहां अपने ज्ञान की अन्तिम सीमा समझते हैं वहां से हमारे ऋषियों की शोध प्रारम्भ होती है। वस्तुत: बात यह है कि एक प्रकार के गुण, शक्ति प्रकृति, स्वभाव प्रवृत्ति एवं स्थिति के परमाणु समूह तत्वों में रहते हैं और तत्व के पीछे एक प्रेरक शक्ति काम करती है जो ईश्वरीय अनुशासन के नाम से पुकारी जाती है। यह प्रेरक,

नियामक, संचालक तथा उत्पादक और विध्वंसक शक्ति एवं सत्ता ही अपने क्षेत्र को अनुशासित करती है और वही उसका देवता है। इन देवताओं की अपनी अपनी कार्यप्रणाली तथा मर्यादा होती है। जहां उनके पदार्थ एवं परमाणु सम्बन्धी क्रियायें होती हैं वहां गुण और स्वभाव सम्बन्धी शक्तियां भी हैं। इन देवताओं का भी अपना अपना एक गुण और स्वभाव है। जिस देवता के साथ उपासना द्वारा सम्बन्ध किया जाता है उसके गुण और स्वभाव के साथ भी सम्बन्ध स्थापित हो जाता है। इस प्रकार वह उपासक, उपास्य देव के गुणों को ग्रहण करके अपने आप में आत्मसात् कर लेता है। उपनिषद् में भी इसका वर्णन आया है।

इस प्रकार उपास्य देवता के साथ उपासक का सम्बन्ध स्थापित हो जाता है। तथा जिस पदार्थ पर उस देवता का आधिपत्य है वह पदार्थ भी उपासक को उपास्य की कृपा से किसी न किसी प्रकार प्रचुर मात्रा में उपलब्ध होने लगते हैं। यह इसका एक विशेष विज्ञान तथा रहस्य है।

आजकल का भौतिक वैज्ञानिक अपना अभीष्ट सिद्ध करने के लिये भौतिक तत्वों और परमाणुओं की खोज और परीक्षण करने के लिये तथा उनको पकड़ने के लिये बड़ी बड़ी लोहे की मशीनों का सहारा लेता है, बड़े बड़े यन्त्रों का आविष्कार करता है और बड़े परिश्रम के साथ अनुसन्धान करता है। परन्तु हमारे यहां की भारतीय योग विज्ञान की क्रिया पद्धति न मालूम कितने अधिक ऊंचे स्तर पर काम करती है। भारतीय योग विज्ञान इन भौतिक तत्वों और परमाणुओं के अधिष्ठाता और प्रेरक चैतन्य देव को पकड़ता है और उससे

अपना अभीष्ट सिद्ध करता है। और इस पकड़ के लिये उसे बड़ी बड़ी लोहे की मशीनों की आवश्यकता नहीं होती बल्कि वह ईश्वर की बनाई हुई सर्वांगपूर्ण 'मानव देह' रूपी मशीन के ही सहारे से सब काम सिद्ध कर लेता है। मस्तिष्क एवं अन्तःकरण की अद्भुत शक्ति से ही योग–क्रिया द्वारा शरीर स्थित विभिन्न केन्द्रों तथा स्थानों से चैतन्य देव से सम्बन्ध स्थापित कर लेता है। सनातन ऋषियों का योग विज्ञान बड़ा ही विलक्षण तथा महत्वपूर्ण है।

रेडियो की सुई घुमाने से जिस प्रकार भिन्न भिन्न स्टेशन पर जहां जिस केन्द्र पर सुई लगा दी जाती है, बोलने लगते हैं उसी प्रकार अन्तःकरण की चित्त-वृत्ति रूपी सुई शरीर के अन्दर स्थित किसी केन्द्र अर्थात् मूलाधार, स्वाधिष्ठान, अनाहत, मणिपूरक, विशुद्ध, आज्ञा तथा सहस्रार आदि चक्र पर (तथा और भी केन्द्र हैं) लगाकर केन्द्रित करके एकाग्र करके तत् तत् सम्बन्धी अधिपति देवताओं से सम्बन्ध स्थापित कर दिया जाता है। यह सब क्रियायें महात्माओं और सनातन ऋषियों की अनुभूत हैं जो आज भी सिद्ध महात्माओं तथा सन्तों और अच्छे साधकों से गुरु द्वारा सीखी तथा जानी जा सकती हैं और उनसे लाभ उठाया जा सकता है। यह सब सनातन धर्म की उपासना पद्धति का वैज्ञानिक रहस्य है।

ऋषियों की उपासना पद्धति पूर्ण वैज्ञानिक तथा अनुभव की हुई है। उसके अनुसार चलने से निश्चय ही कल्याण तथा लाभ होता है। इसी प्रकार कीर्तन तथा जप आदि में भी आध्यात्मिक लाभ के साथ साथ वैज्ञानिक पद्धति है। अतः अब कीर्तन के विषय पर कुछ काश डाला जाता है।

कीर्तन--विज्ञान

हमारे सनातन धर्म के ग्रन्थों में कीर्तन, जप एवं नामस्मरण की महिमा का बड़ा ही महत्वपूर्ण वर्णन है, विशेषकर इस कलि-काल जैसे विकराल समय के लिए इन्हें अचूक रामबाण कहा गया है।

यथा–

मर्त्या अमर्तस्य ते भूरि नाम मनामहे।
(ऋग्वेद ८।११।५)

तथा–

कलेर्दोषनिधे राजन्नस्ति ह्येको महान् गुणः।
कीर्तनादेव कृष्णस्य मुक्तसंगः परं व्रजेत्॥
कृते यद् ध्यायतो विष्णुं त्रेतायां यजतो मखैः।
द्वापरे परिचर्यायां कलौ तद्धरिकीर्तनात्॥
(श्रीमद् भाग० १२।३।५१-५२)

अर्थात् 'राजन्! दोषों के भण्डार इस कलियुग में यह एक महान् गुण है कि इसमें भगवान् का कीर्तनमात्र करने से ही पुरुष सब प्रकार की आसक्तियों से मुक्त होकर परमात्मा को प्राप्त हो जाता है। सतयुग में विष्णु के ध्यान, त्रेता में यज्ञ तथा द्वापर में पूजा करने से जो फल प्राप्त होता है वह सब कलियुग में श्रीहरि नाम कीर्तन से ही मिल जाता है।'

गोस्वामी तुलसीदास जी लिखते हैं—

नहिं कलि करम न भगति बिवेकू।
राम नाम अवलंबन एकू॥

तथा-

कृतजुग त्रेता द्वापर पूजा मख अरु जोग।
जो गति होय सो कलि हरि नाम ते पावहिं लोग॥

श्री गीता जी में भी भगवान् श्री मुख से कहते हैं—

सततं कीर्तयन्तो मां यतन्तश्च दृढ़व्रताः।
नमस्यन्तश्च मां भक्त्या नित्ययुक्ता उपासते॥
(६।१४)

अर्थात् 'भक्तजन निरन्तर मेरे नाम और गुणों का कीर्तन करते हुए तथा मेरी प्राप्ति के लिए यत्न करते हुए और मुझे बार बार प्रणाम करते हुए सदा मेरे ध्यान में युक्त होकर अनन्य भक्ति से मेरी उपासना करते हैं।' इस प्रकार बहुत सी महिमा गायी गयी है। हमें आज कीर्तन एवं नामस्मरण से प्रत्यक्ष और शीघ्र लाभ क्यों नहीं होता, इस विषय पर विचार करना है।

जो कार्य उसके मूल्य एवं महत्व को समझकर श्रद्धा तथा भावपूर्वक यथाविधि किया जाता है तथा उसके गुणों को जान कर किया जाता है वह कार्य शीघ्र तथा पूर्णरूपेण प्रतिफलित होता है और वह बिना श्रद्धा के, बिना महत्व, गुण और तत्व को जाने अविधिपूर्वक किए हुए कर्म से कहीं अधिक वीर्यतर और श्रेष्ठ होता है। उपनिषद् में कहा गया है कि—

यदेव विद्यया करोति श्रद्धयोपनिषदा
तदेव वीर्यवत्तरं भवति। (छान्दोग्य १। १ १०) तथा—

अश्रद्धया हुतं दत्तं तपस्तप्तं कृतं च यत्।
असदित्युच्यते पार्थ न च तत्प्रेत्य नो इह ॥
(गीता १७।२८)

यः शास्त्रविधिमुत्सृज्य वर्तते कामकारतः।
न स सिद्धिमवाप्नोति न सुखं न परां गतिम् ॥
(गीता १६।२३)

अर्थात् जो पुरुष शास्त्र की विधि को त्याग कर अपनी इच्छा से वर्तता है, वह न तो सिद्धि को प्राप्त होता है और न परम गति को तथा न सुख को ही प्राप्त होता है।

परन्तु कलिदोषसमूहग्रसित आधुनिक लोगों में इस प्रकार की श्रद्धा, भावना तथा विधि का अभाव होने के कारण प्रत्यक्ष फल शीघ्र दृष्टिगोचर नहीं होता। यदि इस पर यह कहा जाय कि तब तो कीर्तन करना व्यर्थ है तो यह ठीक नहीं है। गोस्वामी श्री तुलसीदास जी ने कहा है—

भाव कुभाव अनख आलसहूं।
नाम जपत मंगल दिसि दसहूं ॥
कलिजुग केवल हरि गुन गाहा।
गावत नर पावहिं भव थाहा ॥

अर्थात् भाव, कुभाव, अनख एवं आलस्य से भी नाम का जप एवं कीर्तन करने से दसों दिशाओं में मंगल ही होता है तथा कलियुग में केवल भगवान् का गुणगान करने से ही संसार की थाह मिल जाती है। यद्यपि बाहर से लोगों को यह कीर्तन

एक प्रकार का कौशल एवं गान-कला मात्र ही प्रतीत होता है तथापि इसमें बड़ा ही गम्भीर एवं वैज्ञानिक रहस्य है जो निवेदन किया जाता है।

कीर्तन का वैज्ञानिक प्रभाव

जहां तक कीर्तन की ध्वनि गुंजारित होती है, वहां तक के वायुमण्डल में भगन्नाम की ध्वनि, शब्द और भाव लय होकर व्याप्त हो जाते हैं। संकीर्तन के जितने गुण हैं, वे सब गुण वायु-मण्डल की सूक्ष्म धाराओं में एक रस होकर व्याप्त हो जाते हैं और वह स्थान तथा उतना वायुमण्डल उसी भावना से शुद्ध एवं ओत प्रोत हो जाता है। यह विज्ञान सिद्ध है तथा हम लोग प्रत्यक्ष अनुभव करते हैं कि शब्द, ध्वनि, भाव तथा क्रिया-ये सब नष्ट नहीं हो जाते। यद्यपि हमें यह प्रतीत होता है कि शब्द का उच्चारण मुख से हुआ तथा हमने सुना और वह तत्काल ही वायु में विलीन हो गया, अत: नष्ट हो गया; तथापि वह नष्ट नहीं होता अपितु वह वायुमण्डल में व्याप्त हो जाता है तथा उसको विज्ञान के द्वारा पृथक् अनुभूतिपूर्वक जब चाहे तब बाद में भी श्रवण किया जा सकता है। शब्द को पृथकतापूर्वक एकीकरण करना कोई विस्मयकर व्यापार नहीं है। आजकल ग्रामोफोन में शब्द को, ध्वनि को तथा गायन आदि को ठीक उसी प्रकार से, जैसे कि गायक ने गाया है, हम प्रत्यक्ष अनेकों बार सुनते हैं, तथा रेडियो में भी, यद्यपि एक ही समय में दिल्ली, बम्बई, लखनऊ, जर्मन आदि अनेक विभिन्न देश-देशान्तरों में भाषण-गायन आदि होते हैं, तथापि जिस स्थान का भाषण गायन आदि हम सुनना चाहें उसी स्थान का भाषण आदि उसी समय

तत्क्षण यन्त्र घुमा कर सुन लेते हैं। टेलीफोन इत्यादि में भी हमें यह कला दिखायी देती है। इससे सिद्ध है कि शब्द एवं ध्वनि आदि का पृथक्करण तथा एकीकरण हो सकता है। ये सब कलाएं तो मनुष्यकृत हैं जो आज प्रत्यक्ष हैं, फिर उस सर्वशक्तिमयी, अखण्ड, नित्य नियमित-वर्तिनी प्रकृति में उन शब्द भाव, क्रिया तथा चेष्टा आदि का रहना कैसे असम्भव और असंगत हो सकता है ?

जिस स्थान पर नित्यनियमित अथवा अधिकांशरूप से जो क्रिया होती है वह क्रिया उस स्थान पर सूक्ष्मरूप से विद्यमान रहती है तथा उसके संस्कार उसमें बने रहते हैं और वहां का वातावरण अपने प्रभाव से प्रभावित भी अवश्य करता है। श्वास-प्रश्वास में वायु के साथ वातावरण की सूक्ष्म धारायें अपने संस्कार के सहित अन्दर प्रवेश करके मन एवं अन्तः-करण को, तथा बाहर से परिवेष्टन करके स्थूल शरीर को अपने प्रभाव से अवश्य ओतप्रोत कर देती है, इस कारण सर्व प्रकार से इसका बड़ा भारी प्रभाव पड़ता है। कीर्तन की क्रिया में विशेष बात यह है कि स्थूल शरीर की वाणी आदि के द्वारा कहने के कारण तथा हस्तादि कर्मेन्द्रिय द्वारा चेष्टा होने के कारण और सूक्ष्म शरीर के अन्तःकरण के सूक्ष्म भावों द्वारा भावित होने के कारण वह द्विगुणित फल उत्पन्न करती है। कीर्तन अथवा जप से वायु मण्डल में एक कम्पन होता है और वह कम्पन, शब्द तथा ध्वनि को लिये हुये वायुमण्डल में चक्कर लगाता है तथा चक्कर लगाकर फिर उसी केन्द्र विन्दु पर वापस आकर झंकृत होता है। इस प्रकार एक क्रम से जो कीर्तन अथवा जप की क्रिया होती है उसके प्रभाव से वायुमण्डल में एक

ही प्रकार का कम्पन और एक ही प्रकार की भावधारा प्रवाहित होने लगती है और धीरे धीरे उसकी एक सर्किल सी बन जाती है, मानों शब्द और ध्वनि की एक सेना सी वायुमण्डल में व्याप्त हो जाती है। समष्टि रूप में उन सब भावों का घनीभूति एकीकरण हो जाने के कारण वहां पर एक विशाल विद्युत्-शक्ति एवं भावना का सृजन हो जाता है जो आपस में सब लोगों पर विशेष रूप से एक चमत्कारिक, तात्कालिक प्रभाव डाल देता है। कीर्तन के शब्द श्रवणरन्ध्रों से प्रवेश होते हैं, वाणी से उच्चरित होते हैं, हाथों से करतल-ध्वनि होती है, मन उसके अर्थ, भाव या भगवन्मूर्ति में लग जाता है और सम्पूर्ण शरीर एक लय से घूर्णित होने लगता है, फलत: बाहर और भीतर सब ओर से एक प्रकार की शुद्ध भावना ओतप्रोत हो जाती है जिससे कि हार्दिक आनन्द एवं एक विलक्षण रस स्वरूप प्रेम-भाव की उत्पत्ति होती है जिसका अनुभव परम दिव्य एवं अनिर्वचनीय होता है। उस स्थान पर अनेक व्यक्तियों के द्वारा समष्टि भाव से एक ही क्रिया के होने से एक ही आनन्द, भाव तथा भगवन्नाम के घनीभूत हो जाने के कारण वहां का वातावरण कीर्तनभावमय ही बन जाता है। वहां पर जाने मात्र से ही वह प्रवल संस्कार युक्त भाव अपना प्रभाव अवश्य ही डाल देते हैं जिससे सद्भावना एवं प्रेम का तत्काल जागरण हो जाता है और परम आनन्द तथा शान्ति को प्राप्ति होती है।

प्रथम तो मनुष्य की इन्द्रियां वैसे ही बहिर्मुखी हैं—

पराञ्चि खानि व्यतृणत्स्वयम्भू-
स्तस्मात् पराङ्पश्यति नान्तरात्मन्।

(कठ० २।१।१)

अर्थात् स्वयम्भू (परमात्मा) ने इन्द्रियों को बहिर्मुख करके हिंसित कर दिया है। इसलिए जीव बाह्य विषयों को देखता है, अन्तरात्मा को नहीं।

फिर आजकल के मनुष्यों की इन्द्रियां विशेष रूप से भोग-परायण होने से, मन बहिर्मुख रहने से तथा चित्त संस्कार-युक्त रहने के कारण उनका अन्त:करण आन्तरिक भाव में स्थिर नहीं रह पाता और वैषयिक वासना के कारण सरलता से उस ओर अन्तर्मुखी भाव से जाना भी नहीं चाहता। कीर्तन के द्वारा वाणी से नामोच्चारण तथा श्रवण से नामश्रवण होने के कारण मन को भागने का अवसर नहीं, मिल पाता, बाहर की क्रियाएं मन को अन्तर की ओर प्रविष्ट करती हैं अत: शनै: शनै: अन्तर्मुख होकर मन तज्जनित शुद्ध आनन्द का अनुभव करने लगता है। अन्य विघ्न-बाधाएं उस समय नहीं आने पातीं। वाद्य आदि के कारण चित्त क्रमश: उसकी ध्वनि, शब्द तथा अर्थ में प्रवेश करके भगवन्नाम के शुद्ध सात्विक भाव में प्रवेश करने का अधिकारी हो जाता है, उसकी स्थूल भोग इन्द्रियां उस सांसारिक तमोमय अधोगामी विषयों से उपरत हो जाती हैं और सात्विक गुणों को भोगती हैं जिससे 'सत्वात् संजायते ज्ञानम्' इस नियम के अनुसार उस सात्विक सुख को अनुभव करती हुई क्रमश: ज्ञान को प्राप्त हो जाती हैं। और फिर मन भी अन्तर्मुख होकर तज्जन्य आनन्द का अनुभव करता है। बाह्येन्द्रिय व्यापार नियन्त्रण एवं मानसिक क्रिया दोनों का ही उपयोग इसमें रहता है।

कीर्तन की ध्वनि में भी सात्विक, राजस तथा तामस भाव होता है। हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे। हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण

कृष्ण हरे हरे। तथा-श्री राम जय राम जय जय राम अथवा श्री कृष्ण गोविन्द हरे मुरारे हे नाथ नारायण वासुदेव-आदि कीर्तन-शास्त्रोक्त ध्वनि से ग्रथित हैं और इनसे जो कम्पन तथा भाव उत्पन्न होता है वह सात्विक तथा भगवद् भक्ति को उत्पन्न करने वाला होता है। बाजे के साथ कीर्तन करने में कुछ राजस भावना आ जाती है तथा आजकल जो सिनेमा आदि की ध्वनि तथा तर्ज पर कीर्तन बनाये जाते हैं और किये जाते हैं उनमें घोर राजस भाव रहता है शुद्ध सात्विक भाव की उत्पत्ति नहीं होती। अतः शुद्धसात्विक भावोत्पादक कीर्तन ही करना चाहिये जिससे भगवद्भक्ति उत्पन्न हो और परमात्मा में मन लगे न कि सिनेमा की ध्वनि में रस लेने लगे। कीर्तन का लक्ष्य तो भगवत्प्राप्ति है न कि विषय रसोपभोग। सनातन ऋषियों ने इसका गहरा अन्वेषण तथा अनुभव किया है।

पंचतत्त्व शोधन

प्राचीन काल से तीर्थ आदि स्थानों में तथा मन्दिरों में सदा से भगवत्प्रेमोत्पादक क्रियाएं होती चली आयी हैं, अतः पूजन, अर्चन, धूप, दीप, हवन, स्तुति तथा कीर्तन आदि के द्वारा वहां का सम्पूर्ण पाञ्चभौतिक वातावरण भगवद्भाव से ओतप्रोत रहता है। (पृथ्वी की तन्मात्रा गन्ध-होने के कारण) धूप, चन्दन, पुष्पादि की सात्विक गन्ध से पृथ्वीतत्व का, अर्घ्य भगवत्स्नान तथा तर्पणआदि से जल तत्व का, आरती से अग्नि-तत्व का, हवन से वायुतत्व का तथा स्तुति, कीर्तन पाठ और शंखध्वनि आदि से (जिसके शब्द से अनेक कीटाणुओं का नाश होता है) आकाशतत्व का शोधन हो जाता है। अतः इन

क्रियाओं के होने से वातावरण उन्हीं सात्विक क्रियाओं से ओतप्रोत एवं संस्कारित हो जाने के कारण शुद्ध रहता है। और भगवद्भावना को शीघ्र उत्पन्न करने तथा उसका परिवर्द्धन करने में सहायक होता है। चित्त शीघ्र ही समाहित हो जाता है। ऐसे स्थानों पर जाते-ही जाते उसके संस्कार अन्तःकरण पर अंकित हो जाते हैं तथा दुर्वृत्तियों और दुर्वासनाओं का दमन हो जाता है जिससे शीघ्र शान्ति लाभ होता है।

कीर्तन से रोगों का नाश

जोर-जोर से कीर्तन करने से कुछ मानसिक एवं शारीरिक रोगों का शमन भी होता है। श्वास तथा मस्तिष्क सम्बन्धी रोग के लिये तो यह बड़ा हितकारी सिद्ध हुआ है। इससे हार्दिक बल प्राप्त होता है और सम्पूर्ण इन्द्रियां भगवद् ध्यान की ओर बलात्-सी आकर्षित हो जाती हैं। इसकी ध्वनि की गूंज से अनेक रोगोत्पादक कीटाणुओं का शमन होता है। इस प्रकार के कीर्तन से अन्य लोगों के ऊपर भी प्रभाव पड़ता है और उनके अन्दर भी शुभ संस्कार अंकित होते हैं।

हमें चाहिए कि हम कीर्तन एवं स्मरण, भगवान् की महिमा और स्वरूप को समझते हुए श्रद्धा एवं भावभक्तिसहित करें। उस समय हम ऐसा अनुभव करें कि भगवान् की अपार कृपा हम पर बरस रही है और हम सब उसमें भीग रहे हैं, आनन्दित हो रहे हैं। हम यह भावना करते रहें कि भगवान् अभी प्रकट ही होना चाहते हैं, हम लोगों को कृतार्थ ही करना चाहते हैं। हम लोग इस भाव से कीर्तन करें कि भगवान् साक्षात् रूप से यहां प्रकट विराजमान हैं और हम उनके समक्ष अपनी व्यथा कह रहे हैं, उनके गुण गा रहे हैं और अपने

कल्याण के लिये आशीर्वाद मांग रहें हैं और वे बस, अभी उठ कर हमें कृतार्थ करना ही चाहते हैं। इस भाव से कीर्तन करने से अत्यन्त शीघ्र लाभ प्रतीत होता है। कीर्तन में शुद्धभावना का होना परम आवश्यक है। हम लोग आजकल एकमात्र गान-कला प्रदर्शनरूप को ही कीर्तन का स्थान देने लगे हैं। यही कारण है कि उसका फल प्रत्यक्ष नहीं होता तथा लोग हमारा और कीर्तन का (जो भगवत्प्राप्ति का एक सरल उपाय है) उपहास करते हैं।

दूसरी बात यह है कि हम नाम स्मरण के दस दोषों को, जो नामापराध कहे गये हैं, त्यागकर कीर्तन, स्मरण-जप आदि नहीं करते। इसलिये भी उसका फल अनुभूत नहीं होता। कहा गया है कि–

सन्निन्दासति नामवैभव कथा श्रीशेशयोर्भेदधी–
रश्रद्धा गुरुशास्त्रवेदवचने नाम्न्यर्थवादभ्रमः।
नामस्तीति नषिद्धवृत्ति विहित त्यागौ हि धर्मान्तरैः
साम्यं नामजपे शिवस्य च हरेर्नामापराधा दश॥

(१) सन्निन्दा – संतों की निन्दा, सत्-शास्त्र एवं सत्-मन्त्र तथा सत्-जन आदि की निन्दा।

(२) असति नामवैभवकथा—असत् पुरुषों से नाममाहात्म्य कहना (क्योंकि वे इसका उपहास करके अन्य लोगों में भी अश्रद्धा उत्पन्न करते तथा विश्वास में शिथिलता उत्पन्न करते हैं)।

(३) श्रीशेशयोर्भेदधी :----श्रीश = विष्णु, ईश = महादेव-इन दोनों में भेद-बुद्धि अर्थात् उत्कृष्ट-निष्कृष्ट का भाव रखना।

(४) अश्रद्धा—गुरु—वाक्य में,

(५) शास्त्रवाक्य में

(६) वेदवाक्य में--इन तीनों में श्रद्धा न रखना—

(७) नाम्न्यर्थवाद भ्रमः—नामस्मरण के फल को अर्थवाद समझना अर्थात् यह समझना कि नामजप से पाप-पुञ्ज नष्ट नहीं हो सकता। केवल प्रशंसा और स्तुति के लिये ही नाम की इतनी बड़ी महिमा कही गयी है कि एक बार नामजप से अनन्त पाप नष्ट हो जाते हैं यथा—

नाम्नोऽस्ति यावती शक्तिः पापनिर्हरणे हरेः।
तावत्कर्त्तुं न शक्नोति पातकं पातकी जनः॥

अर्थात् 'भगवन्नाम में पाप नष्ट करने की इतनी शक्ति है कि उतने पाप पापी मनुष्य कर ही नहीं सकता।' इस पर अविश्वास, क्योंकि यह भी एक दोष है।

(८) नामास्तीति निषिद्धवृत्ति—अर्थात् नामजप करते हुए इस भावना से पाप करे, कि मेरे पाप तो नाम प्रभाव से नष्ट ही हो जायंगे, उनका फल मुझे नहीं भोगना पड़ेगा उन पापों का प्रभाव तो मुझ पर कुछ न पड़ेगा, अतएव कुछ भी पाप करूं, क्या हानि है।

(९) विहितत्यागो—विहित कर्म अर्थात् शास्त्रोक्त नित्य-नैमित्तिक कर्मों को नाम जप के बहाने से त्याग देना।

(१०) धर्मान्तरैः साम्यम्—अर्थात् भगवन्नाम और इतर (अन्य) धर्मों में समानता समझना।

इन दस दोषों को त्याग करके नामकीर्तन एवं नाम-जप करना चाहिये।

इसी भाव से किसी ने कहा है—

राम नाम सब कोइ जपे दशऋृत जपे न कोय ।
एक बार दशरथ जपे कोटि यज्ञ फल होय ।।

यहां दशऋृत का भाव है दस नाम अपराधों को त्याग कर जपना और दूसरे पद दशरथ का भाव है कि दसों इन्द्रियों को भगवान् में लगा कर नाम जपना ।

अतः हमें पूर्ण श्रद्धा, विश्वास और शुद्ध भावना के साथ विधिपूर्वक भगवन्नाम, गुण-कीर्तन एवं स्मरण करना चाहिये । इससे अवश्य ही शीघ्र फल प्राप्त होगा ।

जोर जोर से कीर्तन करने से लाभ

कुछ लोगों का कहना है कि जोर-जोर से कीर्तन करने से क्या होगा, जोर-जोर से ही कीर्तन क्यों किया जाय, मन ही-मन भगवन्नाम-स्मरण क्यों न किया जाय ? अतः इस पर भी कुछ विचार करना आवश्यक प्रतीत होता है ।

कीर्तन का अर्थ ही है भगवान् की कीर्ति, नाम, यश तथा गुण आदि का गान करना । और इसकी क्रिया वाद्य के साथ तथा कई लोगों के साथ समष्टि में भी ध्वनि पूर्वक एक स्वर से होती है और इसमें मन के साथ-साथ वाणी, भाव तथा करतल-ध्वनि आदि का भी संयोग रहता है ।

धीरे-धीरे अकेले नाम लेने को कीर्तन का रूप नहीं कहा गया है, उसे 'जप' कहा गया है । यह क्रिया कीर्तन की अपेक्षा सूक्ष्मतर है । इसमें केवल एक ही व्यक्ति भगवद् भावना पूर्वक नाम स्मरण धीरे-धीरे करता है । जोर से भी हो सकता है जिसे 'वाचिक' कहा गया है, किन्तु यह कीर्तन अथवा स्मरण अकेले ही निष्पन्न होने के कारण 'जप' शब्द से कथित है । और उस

नाम को 'मन्त्र' कहा गया है, उसका मनन होता है और उससे भगवत् कृपा प्राप्त होती है यथा 'मननात् त्रायते इति मन्त्रः'।

नाम स्मरण एवं जप रहस्य

इस प्रकार के नाम स्मरण को यद्यपि वाचिक (जिसको लोग सुन सकें) जप कहा जाता है और उस वाचिक जप की अपेक्षा मानसिक (जो मन ही में स्मरण किया जा रहा है ऐसा अनुभूत होता है इस प्रकार का) जप मन के द्वारा सम्पन्न होने के कारण सौगुना श्रेष्ठ कहा गया है, तथापि यह मानस-जप कठिन, कष्टसाध्य एवं केवल अकेले ही सम्पन्न होने के योग्य है। इस प्रकार के जप में (प्रथम ही) चित्त शीघ्रता से स्थिर नहीं होता। हां, यदि स्थिर हो गया तब फिर शतगुणित फल अवश्य ही प्राप्त होगा। कारण यह है कि कीर्तन स्थूल शरीर का कार्य है और यह जप सूक्ष्म शरीर का आन्तरिक (मानसिक) कार्य है। जब तक मनुष्य स्थूल शरीर सम्बन्धी क्रियाओं से अपनी वृत्ति हटाकर अन्तर्मुख नहीं हो जायगा तब तक यह क्रिया नहीं हो सकेगी। पहले बाह्य विषयों से इन्द्रिय तथा मन का निग्रह करो, दुर्वासनाओं का दमन करो, फिर केवल भगवन्नाम अथवा मन्त्र का भावपूर्वक स्मरण करो और मन को एकमात्र उसी में लगाये रक्खो तब वह क्रिया वास्तविक रूप से सम्पन्न होगी। इसमें स्थूल शरीर एवं स्थूल जगत् का भान नष्ट होकर मन क्रमशः सूक्ष्म आन्तरिक जगत् में प्रवेश करेगा और एक अनुपम भाव की सृष्टि करके मन मन्त्र के रूप में मन्त्रमय ही हो जावेगा।

कीर्तन में योग-साधना

मन और प्राण का सम्बन्ध एक होने के कारण, प्राण भी शनैः शनैः सूक्ष्म होते जायंगे, श्वास-प्रश्वास की क्रिया भी सूक्ष्म होती जायगी और अन्त में प्राण अन्तर्मुखी मन के साथ सुषुम्ना में प्रवेश करके बहिर्जगत् की विस्मृतिपूर्वक अन्तर्जगत् के मानसिक आनन्द को उत्पन्न कर देंगे, और अन्दर का आनन्द भण्डार खुल जायगा, ऐसे समय में प्राण सुषुम्ना मार्ग से महीन और अन्तर्मुख होते-होते सहस्रार में परम तत्व से मिलकर सविकल्प समाधि का रूप उत्पन्न कर देते हैं। उस समय साधक बाहरी जगत् को बिल्कुल भूल जाता है। केवल एक आत्मसत्ता का ही विलक्षण आनन्द अनुभव करता है। स्थूल शरीर का भान नहीं रहता है, सूक्ष्म शरीर भी सूक्ष्मभाव से रहकर मानसिक रूप से केवल भाव के अनिर्वचनीय आनन्द को उद्भासित करता है। त्रिपुटीमात्र शेष रहती है। फिर यह क्रिया सूक्ष्म से-सूक्ष्म होते होते त्रिपुटीशून्य अवस्था निर्विकल्प समाधि में धीरे-धीरे प्रवेश करने लगती है। पहले मन्त्र स्पन्दनमात्र ही प्रतीत होता है और फिर 'एकमेवाद्वितीयम्' भाव भासित होता है, तथा उसका वर्णन भी वाणी से नहीं हो सकता—

समाधिनिर्धूतमलस्य चेतसो
निवेशितस्यात्मनि यत्सुखं भवेत्
न शक्यते वर्णयितुं तदा गिरा
स्वयं तदन्तःकरणेन गृह्यते ॥

यह क्रिया सूक्ष्म तथा योग से अति—निकट सम्बन्धित होने के कारण सर्वसाधारण के लिये दुःसाध्य है। इसमें कभी-कभी

कम्प, स्वेद और नाना प्रकार के नये-नये भावों की उत्पत्ति होती है। परम शक्ति कुण्डलिनी का जागरण होता है जिससे अनेक अनुभवपूर्वक आत्मज्ञान की प्राप्ति होती है। इसके अधिकारी ही इससे लाभ उठा सकते हैं। कहा जा चुका है कि यह क्रिया सूक्ष्म है अतएव इसको समष्टिरूप से सब लोग एक साथ मिलकर नहीं कर सकते और अधिकारीभेद के कारण अकेले भी इसे सब नहीं कर सकते। हां, यदि कोई अनधिकार चेष्टा करेगा तो प्रहसनमात्र होगा क्योंकि जब तक बाह्येन्द्रिय-व्यापारों का निग्रह और नियन्त्रण नहीं हो जाता, बाह्य भोगों से आसक्ति कम नहीं हो जाती, तब तक मन अन्तर्मुखी नहीं हो सकता। अतः विषय-भोग परायण आसक्त पुरुषों के लिए यह दुःसाध्य है।

इसमें कोई संशय नहीं कि इस प्रकार के जप की क्रिया बड़ी ही विलक्षण, सूक्ष्म तथा प्रभावशाली होती है। जप का अर्थ ही है कि किसी नाम या मन्त्र का कई बार लगातार उच्चारण करते रहना। जन्म तथा जन्म के हेतु पाप का नाश करने के कारण इसे 'जप' कहा जाता है। 'ज' शब्द जन्मविच्छेदक और 'प' शब्द पाप नाशक कहा गया है-

जकारो जन्मविच्छेदः पकारः पापनाशकः।
तस्माज्जप इति प्रोक्तो जन्मपापविनाशकः॥
(अग्निपुराण)

जप में बहुत बड़ी शक्ति है, उससे सम्पूर्ण सिद्धियां प्राप्त हो जाती हैं, इष्ट देवता के साथ सम्बन्ध स्थापित होकर मनोकामना की पूर्ति होती है तथा अध्यात्म पक्ष में आत्म साक्षात्कार हो जाता है।

जप से समाधि

यह जप क्रियायोग की एक प्रधान साधना और अंग है। इसके लगातार साधन से एक प्रकार की आन्तरिक विद्युत्-शक्ति शृंखलाबद्ध उत्पन्न होती है, जो मन की राजसी और तामसी वृत्तियों को शमन करती एवं सात्विक वृत्ति को उत्पन्न करती है, मन अन्तर्मुख होने लगता है, दुर्वासनाओं का दमन होता है, मन ईश्वर तथा आध्यात्मिक भाव एवं आनन्द की ओर अग्रसर होता है। इसकी विलक्षण ध्वनि एक विशेष प्रकार का कम्पन एवं स्पन्दन उत्पन्न करके स्थूल शरीर के प्रत्येक अवयव तथा अणु-परमाणु को सहसा झंकृत, अनुप्राणित और अनुभावित कर देता है जिससे एक विलक्षण रस उत्पन्न होता है तथा मन उसमें डूब जाता है। जिस प्रकार कीर्तन स्थूल से सूक्ष्म में प्रवेश करता है, उसी प्रकार यह जप भी सूक्ष्म से सूक्ष्मतर अवस्था में ले जाता है। पहले कीर्तन के द्वारा साधक अन्नमय कोष का अतिक्रम करके अन्तर्मुख होता है, फिर जपरूप से प्राण सूक्ष्म होकर प्राणमय कोष के अन्दर प्रवेश करके अतिक्रमण करता है, फिर क्रमेण मनोमय कोश के अन्तर्मुख होकर मनोमय कोष को पार करता है, और फिर मन लय होकर विज्ञानमय कोष का अतिक्रमण करता है और अन्त में परमतत्व सहस्रार में मिलकर आनन्द-मय कोष को भी अतिक्रम कर जाता है, इस स्थिति का आनन्द विलक्षण एवं वर्णन अनिर्वचनीय है। इस प्रकार का जप रोम-रोम में, नाड़ी-नाड़ी में तथा प्रत्येक अणु-परमाणु में प्रवेश करके साधक को मन्त्रमय बना देता है। वैज्ञानिक

अनुभव है कि यदि साधक गम्भीर भाव से शक्तिपूर्वक अनवरत जपध्वनि अथवा कीर्तनध्वनि उत्पन्न करे तो उस ध्वनि के कम्पन और स्पन्दन के शक्तिशाली प्रभाव से बड़ी-बड़ी कठोर वस्तुओं का भी भेदन हो सकता है और उसका प्रभाव बिजली की भांति पड़ता है। अतः पञ्चकोषों का अतिक्रमण तो हो ही जायगा। इस प्रकार के साधक के मन की आन्तरिक एकाग्र प्रबल शक्ति, इन्द्रियों के द्वारा निःसृत होकर बाहर आनन्द को बिखरा देती है और मनुष्यों के ऊपर बड़ी शीघ्रता से प्रभाव उत्पन्न करती है। उसकी सौम्यता, शान्ति एवं आनन्द का उद्‌गार नेत्र की ज्योति से तथा वाणी से फूट निकलता है और दूसरों को भी आनन्दित करता है। फिर सविकल्प-समाधि की प्रथमावस्था हो जाती है। ध्याता, ध्यान और ध्येय केवल यह त्रिपुटी ही भासित होती है। उस समय ध्यान अपने-आप हीहोने लगता है। अधिकारी-भेद मे कुछ लोग तो सगुण साकार ध्यान की झांकी से मस्त होते हैं तथा कुछ लोग निराकार ध्यान के आनन्द में डूब जाते हैं।

इस प्रकार जप के द्वारा पंचकोषों का अतिक्रमण हो जाता है, मन का अन्तर्मुखी भाव होते होते ध्यान की प्रगाढ़ अवस्था आ जाती है। और अन्त में ध्याता ध्यान तथा ध्येय एक हो जाते हैं, त्रिपुटी समाप्त हो जाती है, और साधक साध्य को प्राप्त कर लेता है। योग साधना के अनुसार ध्यान के बाद समाधि अवस्था का प्रादुर्भाव हो जाता है। समाधि में भी पहले सविकल्प समाधि और फिर धीरे धीरे निर्विकल्प समाधि आ जाती है तथा साधक को आत्म साक्षात्कार हो जाता है और वह सदा के लिये कृतकृत्य हो जाता है।

निर्गुण-सगुण ध्यान रहस्य

सगुण-साकार, निर्गुण निराकार अथवा अन्य किसी भी ध्यान के विषय में यह नियम है कि जो जिसका ध्यान करता है, उसके गुण उसमें आ जाते हैं। अतः परमात्मा का ध्यान करने से उसकी कृपालाभ के साथ-साथ परमात्मा के गुण भी साधक में आ जाते हैं और अन्त में वह 'जानत तुम्हहिं तुम्हहिं होइ जाई' के रूप में उन्हीं की कृपा द्वारा प्राप्त हो जाता है। सगुण-साकार के ध्यान का विशेष महत्वपूर्ण रहस्य यह है कि मनुष्य स्वभाव से ही पांचभौतिक शरीर तथा तीनों गुणों के साथ विशेष आसक्ति रखता है और त्रैगुण्य-मय मायिक विभूति की इच्छा करता रहता है। सगुण साकार के ध्यान से परमात्मा के चिन्मय रूप के ध्यान के प्रभाव से उसके मन की आसक्ति अपने पाञ्चभौतिक शरीर से धीरे धीरे हट कर भगवद्विग्रह में होती जाती है और दिव्य गुण साधक में प्रकट होने लगते हैं। सगुण उपासना, शक्ति सहित दिव्यगुण-सम्पन्न ब्रह्म की होती है इस कारण से सगुण ब्रह्म के ध्यान से भक्त में शुद्धा माया का प्रादुर्भाव होता है जिससे कि मलिन अविद्या का नाश होता है और भक्त का अन्तःकरण शुद्ध हो जाता है तथा भक्त को भगवान् के ऐश्वर्यादि गुण तथा उनकी दिव्य विभूतियां एवं माया सम्बन्धित समस्त वस्तुओं की प्राप्ति होती है जिससे साधक की वासना पूर्ण होकर फिर वह नष्ट हो जाती है। वह भगवान् के गुण एवं ऐश्वर्य को प्राप्त कर लेने का अधिकारी हो जाता है और इस प्रकार वह आप्तकाम हो जाता है। इसी प्रकार निर्गुण ध्यान से साधक उसी अवस्था को (निर्विकल्प-अवस्था) प्राप्त होता है जिसका वह ध्यान करता

है। परन्तु निर्गुण ध्यान की अवस्था प्रायः सगुण ध्यान के बाद ही आती है। कुछ लोगों का कथन है कि सगुण-साकार का ध्यान करना ठीक नहीं, क्योंकि वह कल्पित होता है। पर ऐसा कहना ठीक नहीं। इसका भी रहस्य गम्भीर एवं महत्वपूर्ण है।

सगुणोपासना की सरलता

बात यह है कि मन को निर्विषय करना अथवा विषयों को पूर्णतया हटाना बहुत कठिन है परन्तु सगुणोपासना सरल इस लिये है कि इस साधन में विषय को पूर्णतया हटाने की बात न करके विषय परिवर्तन कर दिया जाता हैं। शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध इन विषयों का पूर्णतया स्वरूप से त्याग न करके प्रारम्भ में इनका परिवर्तन करा देते हैं। जैसे, शब्द—जो अन्य गान आदि विषयों में पहले प्रयुक्त होते थे उनके स्थान पर भगवत् गुणगान तुलसी, सूर, मीरा आदि भक्तों के पदों द्वारा अथवा भगवन्नाम कीर्त्तन व श्री हरि कथा द्वारा शब्द श्रवण करा दिया जाता है। स्पर्श—भगवान् की मंगलमयी मूर्ति का स्पर्श होता है। रूप—उनकी मनोहारिणी मूर्ति का दर्शन, चित्रपट का दर्शन। तथा शास्त्रों में ऐसा वर्णन आया है कि भगवान के समान और सुन्दर मूर्ति की कल्पना तथा बाहर जगत में दर्शन तो अत्यन्त दुर्लभ ही है, वह तो अखिल सौन्दर्य रसामृत की घनीभूत प्रतिमा हैं अतः उनके ध्यान से रूप का दर्शन होता है। रस में—गंगाजल, चरणामृत आदि पान होता है। गन्ध में—तुलसी, चन्दन, प्रसाद की पुष्प माला आदि के द्वारा सात्विक गन्ध का ग्रहण होता है। इस प्रकार पूजा सामग्री के इन सात्विक विषयों का ग्रहण होता है। तामसी तथा राजसी मनो-वृत्ति को दूर करने के लिये इन सात्विक पदार्थों का-वह भी

प्रसाद तथा भक्ति भावना के रूप से सेवन करने का विधान शास्त्रों ने किया है। विचारों की शुद्धि के लिये उपनिषद्, गीता, रामायण, तथा पुराणादि सद्ग्रन्थों का पठन, मनन तथा स्वाध्याय आदि करने का विधान है। हमारा मन सतोगुणी बनकर फिर भगवान के स्वरूप में लीन हो सके तथा धीरे धीरे निर्विषय होकर ब्रह्माकार वृत्ति बनाकर तद्रूप हो जाये—यह साधना का मनोवैज्ञानिक क्रम है। सतोगुण से ज्ञान होता है-

'सत्वात् संजायते ज्ञानं' (गीता १४।१७)

अतः ज्ञान की प्राप्ति के लिये हमें पहले सतोगुणी पदार्थों का सेवन करना परम आवश्यक है। और इसीलिये ऋषियों ने ऐसा विधान किया है।

वेदान्त के दृष्टिकोण से सिद्धान्त

सृष्टि का नियम है कि कारण ही कार्य रूप में परिणत होता है अर्थात् सूक्ष्म ही क्रमेण स्थूल रूप धारण करता है। यह सृष्टि की उत्पत्ति का क्रम है। यथा—

तस्माद्वा एतस्तमादात्मन आकाशः संभूतः। आकाशाद् वायुः। वायोरग्निः। अग्नेरापः। अद्भ्यः पृथिवी। पृथिव्या ओषधयः। ओषधीभ्योऽन्नम्। अन्नात् पुरुषः।

(तैत्ति० ब्रह्मानन्दवल्ली २।१।१)

अर्थात् इस आत्मा से आकाश उत्पन्न हुआ, सूक्ष्म आकाश से स्थूल वायु की और फिर वायु से उससे स्थूलतर अग्नि की और अग्नि से जल की तथा जल से पृथिवी की, पृथिवी से औषधियों

की, औषधियों से अन्न की और अन्न से पुरुष की उत्पत्ति हुई। और लय का क्रम है स्थूल से सूक्ष्म में लय होना अर्थात् स्थूल अन्न का सूक्ष्म पृथिवी में, पृथिवी का उससे सूक्ष्मतर जल में, जल का अग्नि में, अग्नि का वायु में, वायु का आकाश में, आकाशका महत्तत्व में, महत्तत्व का अहंतत्व में, और अहंतत्त्व का आत्मा में लय हो जाता है। इसी प्रकार क्रमसे सूक्ष्मातिसूक्ष्म आत्मा जीवरूप में अर्थात् स्थूल पञ्चकोषमय, पाञ्चभौतिक शरीर में आया है। इसने निर्गुण रूप से क्रमशः सत्व, रज और तमादि गुणों को एवं निराकार से क्रमेण साकार रूप को धारण किया है। अतः इसका लय भी सोपानक्रम से ही स्थूल से सूक्ष्म तत्व में होगा। पृथिवी एकदम वायु तथा आकाश तत्व में नहीं लय होती वह तो नियमानुसार क्रमेण जल, अग्नि, वायु व आकाश में लय होगी। इसी प्रकार संसारासक्त जीव चिरकाल से ही मलिन विषय शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्धादि में आसक्त रहा है अतः उसको उसी क्रम से 'कण्टकेनैव कण्टकोद्धारः' न्याय से परमात्म-तत्व में लगाना होगा। पृथ्वी पर गिरा हुआ प्राणी पृथ्वी पर ही हाथ टेक कर उसी का सहारा लेकर क्रमशः उठेगा। अतः भगवान् की सगुण चिन्मय मूर्ति के ध्यान से जीव की मलिना माया अविद्या नष्ट हो जाती है। और भगवान् को निर्गुण निराकार अवस्था का भी अनुभव हो जाता है इसीलिये पहले शुद्ध सच्चिदानन्दमयी शास्त्र-कथित मानसिक भगवद् मूर्ति के रूप में अर्थात् सगुणरूप और भाव में लय करना और उनके अंग का ध्यान करना होता है। फिर क्रमशः ध्यानावस्था के प्रगाढ़ होने पर स्थूल भाव सूक्ष्म होता जाता है और सूक्ष्म होते-होते सगुण साकार-अवस्था, सगुण निराकार में परिणत

हो जाती है तथा और भी सूक्ष्म अवस्था आने पर सगुण भाव भी क्रमशः लय होता जाता है और फिर शुद्ध सात्विक भगवद्-भाव शेष रह जाता है और अन्त में शुद्ध सात्विक केवल भावमात्र ही अर्थात् गुणातीत सच्चिदानन्दमय अस्ति, भाति और प्रियरूप ही निःशेष रहकर अनुभूत होता है। ज्ञानेन्द्रियां, कर्मेन्द्रियां तथा मन-बुद्धि आदि अन्तःकरण चतुष्टय भी अपने-अपने कारण में लीन हो जाते हैं। यही परागति और परमावस्था है।

यदा पञ्चावतिष्ठन्ते ज्ञानानि मनसा सह।
बुद्धिश्च च विचेष्टति तामाहुः परमाँ गतिम् ॥
(कठ० २।३।१०)

इस अवस्था को प्राप्त होकर जीव कृतार्थ हो जाता है। ध्यान की यही अवस्था तथा यही नियम-क्रम है। पहले सगुण साकार स्थूल से प्रारम्भ करके सूक्ष्म होते-होते उसे अपने ही कारण में लय करना होता है और फिर क्रमेण सगुण निराकार तथा निर्गुण निराकार अवस्था अपने-आप ही साधन करते-करते समय पर प्राप्त हो जाती है और प्रत्यक्ष अनुभव भी हो जाता है। सम्पूर्ण संशय छिन्न हो जाते हैं। हृदय की अज्ञान-ग्रन्थि का भेदन हो जाता है और फिर शुद्ध वास्तविक मायातीत परमात्मा की प्राप्ति हो जाती है।

भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वं संशयाः।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे ॥
(मुण्डक० २।२।८)

'सा काष्ठा सा परा गतिः।'

अर्थात् वही साधन की पराकाष्ठा और परम गति है।

साधन की प्रक्रिया अधिकारी भेद से, सोपान क्रम से चलती है। जो जिस साधना का अधिकारी होता है, उसे उसी साधन से लाभ होता है। कीर्तन, जप, स्मरण, निर्गुण सगुण ध्यान, इन सबमें तथ्य है। सनातन धर्म की कोई भी क्रिया निरर्थक नहीं है।

वास्तविक बात तो यह है कि इन गूढ़ तत्वों का ज्ञान तथा अनुभव साधकों तथा विशेष अधिकारियों को ही होता है और यह रहस्य श्रद्धालुओं की ही समझ में आते हैं अन्य लोग प्रथम तो श्रद्धाहीनता के कारण विश्वास ही नहीं करते बल्कि शुष्क तर्क के सहारे वास्तविक तत्व का खण्डन करके शुद्ध ज्ञान पर निष्फल व्यर्थ आक्षेप करके अन्य साधकों की भी श्रद्धा में शिथिलता उत्पन्न करते हैं। यदि वास्तव में कुछ दिन इस मार्ग का अनुसरण विश्वासपूर्वक किया जाय तो अवश्य ही इसका कल्याणदायक, महत्वपूर्ण गम्भीर रहस्य समझ में आ सकता है। जब तक जप, कीर्तन, पूजा आदि कोई भी कार्य यथाक्रम यथानियम विधि पूर्वक नहीं किया जाता तब तक उसमें सफलता होना असम्भव प्राय ही है।

अतः हमें अपने सनातन धर्म पर श्रद्धा और विश्वास करना चाहिये तथा ऋषि मुनियों के बतलाये हुये मार्ग पर चलना चाहिये तभी हमारा कल्याण होगा।

इसी प्रकार सनातन धर्म में श्री गंगा जी तथा गौमाता आदि का भी वर्णन ऋषियों ने हमारे यहां किया है। इस प्रकरण में श्री गंगा जी की महिमा पर कुछ प्रकाश डाला जा रहा है।

श्री गंगा जी की महिमा

श्री गंगा जी की स्तुति में महर्षि बाल्मीकि जी ने यह लिखा है—

मातः शैल सुता सपत्नि वसुधा शृंगार हारावलि,
स्वर्गारोहण वैजयन्ति भवती भागीरथि प्रार्थये।
त्वत्तीरे वसतस्त्वदम्बु पिबतस्तद्वीचिषु प्रेङ्खत—
स्त्वन्नामस्मरत स्त्वदर्पित दृशः स्यान्मे शरीर व्ययः॥

अर्थात् पृथ्वी की शृंगार माला, पार्वती जी की सपत्नी और स्वर्गारोहण के लिए वैजन्ती पताका रूपिणी हे भागीरथी! मैं आप से प्रार्थना करता हूँ कि तुम्हारे तट पर निवास करते हुये, तुम्हारा नाम स्मरण करते हुए और तुम्हीं में दृष्टि लगाये हुये मेरा शरीरपात हो।

ऋग्वेद में आया है—

'इमे मे गंगे यमुने सरस्वति शतद्रु।' (ऋ० १०।७५।५)

गीता में भी 'स्रोतसामस्मि जाह्नवी (गी० १०।३१) कहा गया है।

श्री गंगा जी को हमारे यहां देवी रूप में माना जाता है और पूजा जाता है। श्री गंगा जी को सुरसरि कहते हैं। सन्त महात्मा गंगा जी के किनारे ही अधिकतर अपना स्थान बनाते हैं और उसके किनारे विचरण करते हैं। पर्व का स्नान गंगा जी पर महत्वपूर्ण माना जाता है। गंगा जी के जल को लोग बड़ी श्रद्धा से गंगाजली में भर कर लाते हैं और परिवार के लोगों को वह चरणामृत के रूप में देते हैं। पवित्रता के हेतु उसे ऊपर

छिड़कते हैं । 'गंगा गंगा' का उच्चारण करना भी पवित्र माना गया है—

'गंगा गंगेति यो ब्रूयात् योजनानां शतैरपि ।
मुच्यते सर्व पापेभ्यो ब्रह्मलोकं स गच्छति ।।'

यह जो कहा गया है वह श्री गंगा जी की विशेषता, महत्ता तथा लाभ और उपयोगिता की दृष्टि से ही कहा जाता है ।

गंगाजल को लोग नित्य चरणामृत पान में सेवन करके लाभान्वित होते हैं । चरणामृत के रूप में कुछ न कुछ गंगाजल पेट में अवश्य चला जाता है जो लाभ करता है । यह कीटाणु नाश करता है । गंगानदी के जल के विषय में वैज्ञानिकों ने सिद्ध कर दिया है कि उसमें एक ऐसी शक्ति है, जो कीटाणुओं को बहुत शीघ्र नष्ट कर देती है । उस जल में स्नान करने से उसके प्रभाव से रोगोत्पादक समस्त विषैले कीटाणु नष्ट हो जाते हैं और अनेक रोगों का शमन होता है । उसमें पाचनशक्ति आदि गुण विशेष हैं । एक वैज्ञानिक ने अनुभव किया है कि उस जल में गन्धक इत्यादि पदार्थ विशेष मात्रा में होते हैं जो दूषित कीटाणुओं को तत्काल नष्ट कर देते हैं । यही कारण है कि गंगा जी में अनेकों शव बहाये जाने पर भी उसके जल की महत्ता कम नहीं होती और न कोई दोष उत्पन्न होता है, और न उसका गुण ही कम होता है । उसमें इस प्रकार के ऐसे अनुपम गुणकारी विलक्षण चमत्कारिक परमाणु रहते हैं जो आध्यात्मिक, आधिदैविक तथा आधिभौतिक तीनों दृष्टियों से मनुष्य को कल्याणकारी सिद्ध हुए हैं । परम कल्याणकारी श्री गंगा माता परम पवित्र हिमालय से निकलकर अपने अनेक दुर्लभ एवं आश्चर्यमय गुणों को लिये हुए असंख्य प्राणियों

का कल्याण करती हैं। गंगाजल में शारीरिक बलवर्द्धक एवं जीर्णज्वर आदि अनेकों रोगों के नाश करने की अद्‌भुत शक्ति वैज्ञानिकों द्वारा सिद्ध की जा चुकी है, यहां तक कि कुष्ठ इत्यादि में भी लाभ देखा गया है। यह तो सब लोगों को प्रत्यक्ष सिद्ध ही है कि गंगाजल को वर्षों तक शीशी में बन्द करके रखने से भी उसमें न कोई कृमि उत्पन्न होता है, न उसके गुणों में न्यूनता आती है। यह गंगाजल की बात हुई, गंगा जी की मिट्टी में भी बड़े विलक्षण गुण वर्तमान हैं और गंगातट की वायु भी गंगा जी से सम्बद्ध होने के कारण अपने में एक विलक्षण शक्ति छिपाये है। माता गंगा तो हमारा कल्याण जाने-अनजाने सब प्रकार से कर ही रही है, हम ही उनके महत्व को न जानने के कारण उनके ब्रह्मद्रव को साधारण जल कह कर उसकी उपेक्षा करते हैं। गंगा की महिमा अनादि है 'ऋग्वेद' में भी गंगा, यमुना आदि नदियों का वर्णन आता ही है। इसीलिए इसके सुरसरि तथा पापहारिणी इत्यदि नाम हैं जो धार्मिक दृष्टि से मान्य तथा पूज्य हैं।

गंगा दशहरा

गंगा दशहरा का पर्व भी ज्येष्ठ शुक्ल दशमी को प्रति-वर्ष मनाया जाता है। हमारे यहां इसकी बहुत बड़ी महिमा है इस पर्व पर गंगा स्नान के लिए लोग बड़ी बड़ी दूर दूर से बड़ी श्रद्धा के साथ जाते हैं। इसका शास्त्रीय महत्व यह है कि इस दिन अर्थात् ज्येष्ठ शुक्ल दशमी बुधवार को हस्त क्षेत्र में स्वर्ग से गंगा का अवतरण हुआ था। गंगा जी के आविर्भाव की कथा वाल्मीकि रामायण तथा महाभारतादि में विस्तार से

लिखी है। अतएव इस दिन गंगा स्नान, अन्न वस्त्रादि का दान, जप, तप, उपासना, कीर्तन सत्संग तथा उपवास किया जाय तो दश प्रकार के पापों का नाश होता है-

'ज्येष्ठे मासे सिते पक्षे दशमी हस्त संयुता।
हरते दश पापानि तस्माद् दशहरा स्मृता ॥'

(ब्रह्म पुराण)

दस प्रकार के पापों में तीन प्रकार के कायिक, चार प्रकार के वाचिक और तीन प्रकार के मानसिक पाप स्कन्द पुराण में कहे गये हैं। जैसा कि गंगास्तोत्र में निरूपण है और वह इस प्रकार है :-

बिना दी हुई वस्तु का लेना (चोरी) अविधिपूर्वक हिंसा, परस्त्री पर बुरी भावना—ये कायिक अर्थात् शारीरिक पाप हैं। कठोर वचन बोलना, झूठ बोलना, चुगली करना, असम्बद्ध प्रलाप (बकवाद) करना, ये वाणी से होने वाले चार वाचिक पाप हैं। दूसरों की वस्तु या द्रव्य की इच्छा करना, मन से किसी का अनिष्ट चिन्तन करना और व्यर्थ का आग्रह ये तीन मानसिक पाप हैं—इस प्रकार इन दशों पापों की निवृत्ति होती है। गंगा स्नान में इस समय लोग दश गोते भी लगाते हैं। स्नान करके श्री गंगा जी का पूजन करते हैं और निम्न मन्त्र पढ़ते हैं:—

"नमो भगवत्यै दशपापहरायै गंगायै नारायण्यै रेवत्यै शिवायै अमृतायै विश्वरूपिण्यै ते नमो नमः।"

गंगा दशहरा में दश संख्या का भी बड़ा महत्व है—दश योग पड़े, गंगा अवतरण के समय (धर्म सिन्धु में ऐसा लिखा है) दश प्रकार के पापों का शमन होता है, दशमी तिथि थी, तथा पूजा

में भी इस पर्व पर लोग दश प्रकार के पुष्प, दशांग धूप, दश दीपक, दश प्रकार के नैवेद्य, दश ताम्बूल और दश फलों का उपयोग इसमें करते हैं। लोग दश प्रकार के दश-दश सेर अनाज दश ब्राह्मणों को देते हैं। अपनी शक्ति और सामर्थ्य के अनुसार श्रद्धापूर्वक दान का महत्व है।

पतित पावनी भगवती भागीरथी के स्नानार्थ भारतवर्ष के लाखों, करोड़ों व्यक्ति इस पावन पर्व पर जाते हैं—श्रद्धा भक्ति से स्नान दानादि पुण्य कर्म करके अपने को कृतकृत्य समझते हैं। श्रीमद्भागवत के पांचवें स्कन्ध १७ वें अध्याय १० वें श्लोक में भी आया है कि गंगा स्नान के लिये आने वाले पुरुष को पग पग पर अश्वमेध, राजसूय आदि यज्ञों का फल दुर्लभ नहीं है। यह हमारे धर्म ग्रन्थों में वर्णित है।

आधिभौतिक दृष्टि से महत्त्व

आधिभौतिक दृष्टि से भी यदि हम देखें तो ज्येष्ठ मास की तप्त गरमी में स्नान लोगों को कितना प्रिय है। उस पर भी यदि तालाब, नदी और फिर गंगा नदी का स्नान प्राप्त हो जाय तो कहना ही क्या ? हरिद्वार में गंगा जी का जल कितना ठण्डा रहता है यह वहां स्नान करने वाले ही जानते हैं। हरिद्वार से ऊपर ऋषिकेश, लक्ष्मण झूला, उत्तरकाशी आदि में जितना आगे बढ़ते जाओ श्री गंगा जी का जल उतना ही अधिक शीतल, आनन्ददायक तथा लाभप्रद प्रतीत होता है। इसमें स्नान करने से चर्मरोग तथा कुष्ठ तक दूर हो जाता है।

गंगा जल लेकर लोग इंगलैण्ड तक जहाज पर चले जाते थे और वह खराब नहीं होता था परन्तु वापसी में यात्री जो

में भी इस पर्व पर लोग दश प्रकार के पुष्प, दशांग धूप, दश दीपक, दश प्रकार के नैवेद्य, दश ताम्बूल और दश फलों का उपयोग इसमें करते हैं। लोग दश प्रकार के दश-दश सेर अनाज दश ब्राह्मणों को देते हैं। अपनी शक्ति और सामर्थ्य के अनुसार श्रद्धापूर्वक दान का महत्व है।

पतित पावनी भगवती भागीरथी के स्नानार्थ भारतवर्ष के लाखों, करोड़ों व्यक्ति इस पावन पर्व पर जाते हैं—श्रद्धा भक्ति से स्नान दानादि पुण्य कर्म करके अपने को कृतकृत्य समझते हैं। श्रीमद्‌भागवत के पांचवें स्कन्ध १७ वें अध्याय १० वें श्लोक में भी आया है कि गंगा स्नान के लिये आने वाले पुरुष को पग पग पर अश्वमेध, राजसूय आदि यज्ञों का फल दुर्लभ नहीं है। यह हमारे धर्म ग्रन्थों में वर्णित है।

आधिभौतिक दृष्टि से महत्त्व

आधिभौतिक दृष्टि से भी यदि हम देखें तो ज्येष्ठ मास की तप्त गरमी में स्नान लोगों को कितना प्रिय है। उस पर भी यदि तालाव, नदी और फिर गंगा नदी का स्नान प्राप्त हो जाय तो कहना ही क्या? हरिद्वार में गंगा जी का जल कितना ठण्डा रहता है यह वहां स्नान करने वाले ही जानते हैं। हरिद्वार से ऊपर ऋषिकेश, लक्ष्मण झूला, उत्तरकाशी आदि में जितना आगे बढ़ते जाओ श्री गंगा जी का जल उतना ही अधिक शीतल, आनन्ददायक तथा लाभप्रद प्रतीत होता है। इसमें स्नान करने से चर्मरोग तथा कुष्ठ तक दूर हो जाता है।

गंगा जल लेकर लोग इंगलैण्ड तक जहाज पर चले जाते थे और वह खराब नहीं होता था परन्तु वापसी में यात्री जो

अन्य जल लाते थे वह खराब हो जाता था, इससे गंगा जल की महिमा स्पष्ट प्रतीत होती है।

केवल गंगा जल में बहुत ही गुण विद्यमान है। वह टानिक है, रोगनाशक है, पाचक, मधुर तथा अनेक गुण समन्वित है। वह स्वयं ही एक औषधि, रसायन तथा सर्व प्रकार लाभदायक है। गंगाजल सेवन करने वाले को कोई बीमारी नहीं होती, वे बड़ी बड़ी बीमारियों से बच जाते हैं। आयुर्वेद शास्त्र में भी श्री गंगाजल की महिमा तथा गुण भरे पड़े हैं। कहां तक कहा जाय हर दृष्टि से यह लाभदायक ही हैं। गंगा जल के गुण भी वैद्यक शास्त्र में इस प्रकार लिखे हैं।

गंगा वारि सुधा समं बहु गुणं पुण्यं सदायुष्करं,
सर्व व्याधि विनाशनं बलकरं वर्ण्यं पवित्रं परम्।
हृद्यं दीपन पाचनं सुरुचिरम्मिष्टं सु पथ्यं लघु--
स्वान्तध्वान्त निवारि बुद्धि जननं दोषत्रयघ्नं वरम्॥

अर्थात् गंगा का जल अमृत के तुल्य, बहुगुणयुक्त, पवित्र, उत्तम, आयु का बढ़ाने वाला, सर्व रोगनाशक, बल वीर्य वर्द्धक, परम पवित्र, हृदय को हितकर, दीपन, पाचन, रुचिकारक, मीठा, उत्तम पथ्य और लघु होता है तथा भीतरी दोषों का नाशक, बुद्धि जनक, तीनों दोषों को नाश करने वाला तथा सब जलों में श्रेष्ठ है।

इसके अतिरिक्त यह भी कहा गया है कि—

शरीरे जर्जरी भूते व्याधिग्रस्ते कलेवरे।
औषधं जाह्नवीतोयं वैद्यो नारायणो हरिः॥
(पाण्डवगीता ७४)

अर्थात् इस व्याधिग्रस्त शरीर के जर्जर होने पर श्री गंगा जी का जल औषध है तथा भगवान नारायण ही वैद्य के रूप में कल्याणकारी हैं।

एक वैज्ञानिक उदाहरण

गंगाजल की विशेषता में वैज्ञानिक दृष्टिकोण से एक प्रामाणिक उदाहरण दिया जा रहा है—

इस बात को देखकर बहुत दिनों से लोग आश्चर्य मानते थे कि काशी में हैजा बहुत होता है किन्तु आसपास के गांवों में प्राय: नहीं होता। आगरा गवर्नमेन्ट की ओर से नियुक्त वैज्ञानिक हैंकिन्स साहब इस रहस्य की जांच करने के लिए काशी आये और यन्त्रों के द्वारा गन्दे जल की परीक्षा की। उन्होंने देखा कि काशी के गन्दे नाले, जो गंगा जी में आकर गिरते हैं उसमें लाखों हैजे के कीड़े हैं किन्तु गंगा जल में मिलने के छ: घण्टे बाद ही वे सब मर जाते हैं। उन्होंने एक मुर्दे को पकड़ कर उसके पास के जल की भी परीक्षा ली तो उसमें भी असंख्य कीड़े पाये गये किन्तु छ: घण्टे बाद वे सब मर गये। उन्होंने लाखों कीड़े गंगाजल में परीक्षण करने के लिये छोड़कर देखा तो छ: घण्टे में सब के सब नष्ट हो गये।

इसके बाद हैंकिन्स साहब ने कुयें के जल में भी हैंजे के कीड़े डालकर देखे तो छ: घण्टे में बढ़ते बढ़ते वे असंख्य हो गये। अत: आश्चर्य चकित होकर उन्होंने कहा कि—'हिन्दू लोग गंगा जल को जो इतना पवित्र मानते हैं और गंगा जी को देवी मानते हैं उसके भीतर बहुत कुछ तत्त्व और रहस्य है।

श्री गंगा जी के किनारे टहलने से, श्री गंगा जी के जल से स्पर्श की हुई वायु का सेवन करने से शारीरिक स्वास्थ्य को भी

बड़ा लाभ होता है, शीतलता तथा आनन्द तो आता ही है, मानसिक विचार भी शुद्ध होते हैं, अन्तःकरण पवित्र होता है और हृदय में भक्ति का प्रादुर्भाव होता है। श्री गंगा जी के किनारे ऋषियों, मुनियों तथा महात्माओं ने तपस्या की है। जीवन भर धर्म, कर्म, यज्ञ, यागादि किये हैं, आध्यात्मिक, दार्शनिक गम्भीर चिन्तन मनन किया है, जप, तप, तथा सत्संग किया है, धारणा, ध्यान, समाधि लगाई है। उसके संस्कार आज भी वहां के वातावरण में विद्यमान हैं, घनीभूत हैं जो आन्तरिक प्रभाव डालते हुये काम कर रहे हैं और प्रत्यक्ष आनन्द देते हुये लाभ पहुंचा रहे हैं। जिसको सत्संग की इच्छा होती है, जो मानसिक शान्ति चाहते हैं वे श्री गंगा जी के तटपर सन्त महात्माओं के दर्शन सत्संग का लाभ विना प्रयास ही पा जाते हैं और आन्तरिक आनन्दानुभूति प्राप्त करते हैं। बाह्य दुःख, सांसारिक चिन्ता न मालूम कहां चली जाती है। श्री गंगा जी मानों ऐसा केन्द्र हैं जिसके किनारे आध्यात्मिकता तथा धार्मिकता का निवास है, यह पुण्य का क्षेत्र है।

गंगा और गंगा-स्नान कहते ही तथा उसकी कल्पना करते ही एक आनन्द की लहर हृदय में दौड़ जाती है और एक पवित्र भावना का संचार होता है। गरमी की ऋतु में श्री गंगा जी के शीतल जल में स्नान, जल पान, वायुसेवन तथा सत्संग एवं पर्यटन का लाभ, प्राकृतिक छटा का दर्शन, ये सब एक ही साथ लोग पा जाते हैं। बड़े ही भाग्यशाली हैं वे लोग जिन्हें गंगा स्नान का ऐसा शुभ अवसर प्राप्त होता है और कितने पुण्यवान हैं वे लोग जो नित्य गंगा-सेवन करते हैं और गंगा तट पर रहते हैं।

तापत्रय से दग्ध जगत को शीतलता प्रदान करती हुई तथा शुष्क स्थानों को रसमय बनाती हुई, उजाड़ प्रदेशों को शस्यश्यामला के रूप में परिणत करती हुई भगवती भागीरथी भारतभूमि को पवित्र करती और उसको अलंकृत कर रही हैं। हमें इसे अपना सौभाग्य समझ कर गौरव अनुभव करना चाहिये। श्री गंगा जी के समान नदी विश्व में किसी को भी प्राप्त नहीं !

भारतवर्ष में गंगा जी से बहुत सी नहरें निकाल कर खेती, सिचाई आदि का कार्य भी बहुत लिया गया है। इसके जल से सींची हुई भूमि में उपज भी बहुत अधिक मात्रा में होती है।

विदेशी लोगों ने भी इसे वैज्ञानिक दृष्टि कोण से देखा है और कसौटी पर कस कर तब मुक्त कण्ठ से इसकी प्रशंसा की है, डाक्टर वैद्यों ने भी इसे सराहा है। 'हाथ कंगन को आरसी क्या' इसे तो आप भी प्रत्यक्ष अनुभव कर सकते हैं।

आधिदैविक रूप

श्री गंगा जी को देव नदी, सुरसरि आदि कहा जाता है। इसे केवल साधारण जल से परिपूरित नदी ही नहीं बल्कि पापनाशिनी देवी का स्वरूप माना जाता है और जल, अक्षत तथा आरती, स्तुति से पूजा की जाती है। कवियों ने श्री गंगा जी की स्तुति, प्रार्थना तथा महिमा वर्णन करके उनका गुणगान किया है। महाकवि पद्माकर ने घनाक्षरी छन्दों में तथा श्री 'रत्नाकर' जी ने ब्रजभाषा में श्री गंगा जी की महिमा का विशद् रूप में वर्णन किया है।

चर्पटपञ्जरिका स्तोत्र में कहा गया है—

भगवद् गीता किञ्चिदधीता गङ्गाजल लवकणिकापीता।
सकृदपि यस्य मुरारि समर्चा तस्य यमः किं कुरुते चर्चाम्।।
भज गोविन्दं, भज गोविन्दं गोविन्दं भज मूढ़मते ।।

अर्थात् जिसने भगवद्गीता को कुछ भी पढ़ा है, गंगाजल का जिसने एक बूंदभर भी पान किया है, एक बार भी जिसने भगवान् श्री कृष्णचन्द्र जी की अर्चना की है, उसकी यमराज क्या चर्चा कर सकता है? (अर्थात् नहीं) अतः हे मूढ़मते गोविन्द का भजन कर।

भगवान् श्री शंकराचार्य जी ने श्री गंगा जी की महिमा में और भी लिखा है कि–

भगवति तव तीरे नीर मात्राशनोऽहं
विगत विषय तृष्णः कृष्णमाराधयामि।
सकल कलुष भंगे स्वर्ग सोपान संगे
तरलतरतरंगे देवि गंगे प्रसीद ।।

अर्थात् हे देवि! तुम्हारे तीरपर केवल तुम्हारा ही जलपान करता हुआ, विषय तृष्णा से रहित हो, मैं भगवान् श्री कृष्ण-चन्द्र जी की आराधना करूं। हे सकल पापविनाशिनि! स्वर्ग सोपान स्वरूप तरल तरंगों वाली देवि गंगे मुझ पर प्रसन्न हों। पण्डितराज जगन्नाथ जी ने भी श्री गंगालहरी लिखकर बड़ी सुन्दर स्तुति की है। श्री गंगा जी पाप ताप को हरने वाली, श्री हरि के चरण कमल से निःसृत, भगवान् शंकर की जटाओं में बिहार करने वाली तथा संसार को पवित्र करने वाली हैं। हम भी भगवान् शंकराचार्य जी के शब्दों में श्रीगंगा जी से यही

प्रार्थना करते हैं कि–हे शिव संगिनि मातु गंगे ! शरीर शान्त होने के समय प्राणयात्रा के उत्सव में, तुम्हारे तीर पर, सिर नवाकर हाथ जोड़े हुये, आनन्द से भगवान् के श्री चरणारविन्द युगल का स्मरण करते हुये मेरी अविचल भाव से श्री हरि हर में अभेदात्मिका भक्ति बनी रहे ।

मातर्जाह्नवि शम्भु सङ्ग वलिते मौलौ निधायाञ्जलिं,
त्वत्तीरे वपुषोवसान समये नारायणाङ्घ्रिद्वयम् ।
सानन्द स्मरतो भविष्यति मम प्राणप्रयाणोत्सवे,
भूयाद् भक्तिरविच्युताहरिहरा द्वैतात्मिका शाश्वती ॥९॥

श्री गंगा जी ब्रह्मद्रव हैं । धन्य हैं वे लोग जो श्री गंगा जी के तट पर निवास करते हुये गंगास्नान और श्री गंगा जी का जल-पान करते हुये, हरिगुण गान करते हैं और वेदान्तचिन्तन में अपना समय व्यतीत करते हुये आत्मानन्द में लीन रहते हैं । हे प्रभो ! हमें भी ऐसा सौभाग्य प्राप्त हो ।

गौमाता

गौ की उत्पत्ति के विषय में वेद में आया है कि—

'गावो हि जज्ञिरे तस्मात्
तस्मात् जाता अजावयः' (पुरुष सूक्त)

अर्थात् ब्रह्ममय यज्ञ से पहले गौ प्रकट हुई और फिर बकरे भेड़ आदि । इस प्रकार इसकी उत्पत्ति का वर्णन वेदों में आदि जननी के रूप में आया है । गौ लोक का वर्णन भी शास्त्रों में मिलता है ।

गौ को हमारे यहां माता का स्थान दिया गया है। कहा गया है कि—

जननी जन्म भूमी च जाह्नवी वेद मातरः।
सुरभी तत्र विज्ञेया पञ्चैते मातरः स्मृता ॥

अर्थात् गर्भधारिणी माता, जन्मभूमि, गंगा, गायत्री और गाय ये पांच मातायें कही गई हैं।

महाभारत अश्वमेध पर्व तथा अनुशासन पर्व में भी गौ की महिमा का अपार वर्णन है। वहां लिखा है कि समस्त देवताओं के अंश को लेकर ब्रह्मा ने गौ की रचना की। वेद में भी गौ की महिमा का बड़ा वर्णन है। बल्कि अथर्ववेद में तो एक गौ सूक्त भी ४।२१ में है। गौ के अंग अंग में देवता का निवास माना गया है। गौ में लक्ष्मी का निवास है। प्राचीन काल में जिसके पास जितनी अधिक गौयें होती थीं उतना ही वह अधिक समृद्धिशाली माना जाता था? नन्द बाबा के कितनी गौयें थीं? भगवान् कृष्ण ने भी गोपालन किया, जिसके कारण में गोपाल कहलाये। गौ एक धन है तभी तो उसे 'गोधन' कहा गया है। गौ के बछड़ों से देश में कृषि का सारा कार्य होता है। गौ का घी यज्ञ के काम में आता है तथा वह जीवन में बहुत ही लाभदायक, बल तथा आरोग्यप्रदाता है। गौ का दूध, मट्ठा, मक्खन सभी कुछ यहां तक कि गोबर और गोमूत्र तक पवित्र, रोगनाशक तथा उपयोगी है।

गोमाता वरदायिनी है

गो माता वरदायिनी है। महाराजा दिलीप ने गो सेवा करके पुत्ररत्न की प्राप्ति की थी। उनकी गो भक्ति प्रसिद्ध है।

(देखिये रघुवंश)। गौ काम धेनु है जो मनोवांछित फल देने वाली है। यहां तक कि मृत्यु के समय तक में गोदान करनें की प्रथा हमारे यहां आज तक पुण्यदायक मानी गई है। गोदान का महान पुण्य फल कहा गया है।

गो सेवा से सात्विक भाव का उदय तथा पापों का नाश होता है। गौमाता में चेचक रोग नाश की अपूर्व शक्ति विद्यमान है, गौ में विद्युत् शक्ति का पुंज है। जिस स्थान पर गौ रहती है वहां का वातावरण भी बहुत शुद्ध, पवित्र तथा सात्विक रहता है।

गौ माता के शरीर में विद्युत् शक्ति बहुत अधिक होती है जिसका प्रभाव गौ माता के स्पर्श मात्र से ही शरीर पर पड़ता है। गौओं का शरीर, शृंग, खुर आदि पूजने का विधान है, उसके स्पर्श, पूजन तथा गोचारण से वह दिव्य विद्युत् शक्ति प्राप्ति होती है। गौओं को खुजलावे तो उन्हें बहुत अच्छा लगता है तथा शुभ फल प्राप्त होता है। अतः कहा गया है-

"गावः कण्डूयन प्रियाः।"

एक गौ का जब इतना प्रभाव है तब जहां पर गौ अधिक संख्या में होंगी वहां की शक्ति व प्रभाव का तो कहना ही क्या? गौशाले में गो सेवा करने वाले तथा रहने वाले व्यक्ति को कभी कोई रोग नहीं होता। प्राचीन काल में विद्यार्थी, शिष्य गुरु की गाय चराते तथा सेवा करते थे और उसके आशीर्वाद से विद्या तथा सुख सम्पत्ति प्राप्त करते थे। गौ का दर्शन परम मंगल-कारक माना जाता है।

गोमूत्रं गोमयं क्षीरं दधि सर्पिः कुशोदकम्।
निर्दिष्टं पंचगव्यस्तु पवित्रं पापनाशनम् ॥
(पारा०११।२९)

अर्थात् गोमूत्र, गोबर, दूध, दही, घी, और कुशा का जल-यह पंचगव्य है, जो पवित्र तथा पापनाशक है। इनके सेवन से अन्तःकरण पवित्र और निष्कलुष हो जाता है।

गोमूत्रं कृष्ण वर्णायाः श्वेतायागोमयं हरेत् ।
पयश्च ताम्रवर्णाया रक्ताया दधि चोच्यते॥
कपिलाया घृतं ग्राह्यं सर्वं कापिलमेववा ॥
(पारा० सं० ११।३०)

अर्थात् गोमूत्र, गोमय, दूध, दही, घृत और कुशा का जल पंचगव्य पवित्र तथा पापनाशक है। काली गाय का गोमूत्र, श्वेत गाय का गोमय, तांबे के रंग की गाय का दूध, लाल गाय का दही और कपिला गौ का घृत लेना चाहिए। अगर इन पांचों रंगों की गाय न मिले तो कपिला गौ से ही सब लिया जा सकता है।

गौ के पंचगव्यपान से मनुष्य रोम रोम, तथा हड्डियों तक के आन्तरिक पाप समूह से मुक्त हो जाता है जैसा कि इस पंचगव्य प्राशन मन्त्र से स्पष्ट है—

यत्त्वगस्थि गतं पापं देहे तिष्ठति मामके ।
प्राशना पंचगव्यस्य दहत्वग्निरिवेन्धनम् ॥

विष्णु संहिता में कहा गया है कि—

गवांहितार्थे वसतीह गंगा पुष्टिस्तथासां रजसि प्रवृत्ता।
लक्ष्मी करीषे प्रणतौ च धर्मस्तासाँ प्रणामं सततं च कुर्यात्॥
(अ० २३)

अर्थात् गो-निवास स्थान में गंगा बसती हैं, उनकी धूलि में पुष्टि विद्यमान है, उनके गोमय में लक्ष्मी तथा प्रणाम में धर्म विराजमान है, अतः गोमाता सदा प्रणाम करने योग्य है। गौ के स्पर्श से आयु भी बढ़ती है—

"गोस्पर्शनमायुर्वर्द्धनानाम् (देवी पुराण ११० अध्याय)

गोबर और गोमूत्र

गाय के गोबर और गोमूत्र में भी बड़े गुण हैं। यह कीटाणु-नाशक है। गोबर के प्रयोग से तिल्ली का नाश होता है, यह चर्म रोग का नाशक तथा परम पवित्र माना गया है। गोबर को धार्मिक कार्यों में गौरी के रूप में स्थापित करके पूजन भी किया जाता है। गोबर लीपने से गन्दगी दूर होकर स्थान पवित्र हो जाता है, कीटाणु नष्ट हो जाते हैं, दूषित स्थान को पवित्र करने के लिये गोबर से लीपने की प्रथा तथा विधान है। जो स्थान गोबर से लीपा जाता है वह अत्यन्त पवित्र और शुद्ध माना गया है।

इसके अतिरिक्त—

अग्रमग्रं चरन्तीनामोषधीनाँ वने वने।
तासामृषभपत्नीनाँ पवित्रं कायशोधनम्॥
तन्मे रोगांश्च शोकांश्च मुद गोमय सर्वदा।

इस मन्त्र से सिर से पैर तक गोबर लगाकर स्नान करने की, श्रावणी कर्म में विधि है। पंचगव्य (दही, दूध, घी, गोमूत्र और गोमय) का प्राशन भी श्रावणी में किया जाता है।

वैज्ञानिक दृष्टि से गोबर में, फास फोरिक एसिड, चूना, मैगनेशिया और सेलिका रहती है, इसमें नाइट्रोजन भी है जो अनेक रोगों को नाश करने वाले तत्व हैं। गोबर के रस से बड़े बड़े रोग दूर होते हैं।

गोबर मिले जल से घर को लीपना, धोना चाहिये—ऐसा स्मृति में लिखा है—

गोमयेन तु संमिश्रैर्जलैः प्रोक्षेद् गृहं तथा।

और भी कहा गया है कि—

यद् गोमयेन परिलेपित भूमि भागे
तेनैव लेपित गृहेपि वसन्ति विज्ञाः।
तेषां कुले भवति नासुर भूत बाधा,
व्याधिः कुमारुत कृतोऽपि न तत्र याति॥

अर्थात् गौ के गोबर से लिपी हुई भूमि जहां हो, उस घर में जो बुद्धिमान रहते हैं उनके कुल में असुर, भूत सम्बन्धी बाधा (विषैले रोग जन्तु आदि) नहीं होती और दुष्ट वायु-जनित व्याधियां भी कभी नहीं होतीं।

गोमय में बिजली को रोक देने की अद्भुत शक्ति है। इस लिये पर्वतीय लोग बरसात के पहले अपने मकान को गोबर से लीपकर दरवाजे पर गोमय के यन्त्र बनाये रखते हैं। ऐसा बंगादि देश के लोग भी करते हैं। वैज्ञानिक दृष्टि से यह

भी अनुभूत तथा निश्चित हो गया है कि गोमय तथा गोमूत्र दोनों ही ऐन्टीसेप्टिक हैं अर्थात् बीमारियों के कीटाणु न उत्पन्न होने देने की शक्ति इनमें है।

गोबर का धुवां, गोबर के कण्डे की राख, गोबर की अग्नि जिसमें कि वैद्य लोग रसादिक भस्म बनाते हैं—सबमें विलक्षण रोगनाशक, स्वास्थ्यप्रद गुण विद्यमान हैं। गोबर की राख से खुजली तथा दाद आदि अनेक चर्म रोग दूर होते हैं। यह कीटाणु नाशक होती है तथा इससे (जब साधु लोग अपने शरीर पर मल लेते हैं) शरीर पर शीत का प्रभाव भी कम पड़ता है।

गोमूत्र में भी बहुत से गुण हैं। गोमूत्र के सेवन से जिगर की बीमारी, तिल्ली तथा कुष्ठ तक अच्छा हो जाता है। औषधियों के शोधन में भी गोमूत्र का प्रयोग होता है। गोमूत्र से कृमिरोग कुष्ठरोग, खुजली तथा प्लीहा आदि दूर होते हैं। चरक-संहिता में आया है कि-

गव्यं सुमधुरं किञ्चिद् दोषघ्नं कृमि कुष्ठनुत्।
कण्डूघ्नं शमयेत् पीतं सम्यग्दोषोदरे हितम्॥

(चरक०)

और भी बहुत से गुण हैं जिन्हें आयुर्वेद शास्त्र में देखा जा सकता है। बहुत सी बीमारियां जो अन्य औषधियों से नहीं दूर होतीं, वे गोबर और गोमूत्र से ही दूर जाती हैं।

प्रसूता स्त्री को गोमूत्र पान करने की आज्ञा धर्म शास्त्र में दी गयी है, जिसका बहुत बड़ा गुण यह है कि प्रसूता स्त्री के पेट में जो मल या विकार उसके सम्बन्ध से रह जाता है वह सब

गोमूत्र के द्वारा साफ होकर निकल जाता है तथा पेट (गर्भाशय) बिल्कुल शुद्ध हो जाता है।

गोमय के विषय में एक और विशेष गुण यह भी कहना है कि गोबर को एक बड़े पात्र में भर कर और उसे लेकर बारी बारी से दाहिने और बायें नथुनों से गहरी सांस लेते हुये तीन बार सूंघे। इस प्रकार नित्य तीन बार एक महीने तक सूंघने से ब्लड प्रेशर का रोग निश्चय ही नष्ट हो जाता है।

गौ के घी व मक्खन से भी बहुत लाभ हैं इनसे शरीर की पुष्टि, बल की वृद्धि तथा भोजन में स्वाद की प्राप्ति तो होती ही है साथ ही चर्म रोग आदि अनेक व्याधियां भी इससे (घी या मक्खन १०१ बार जल में धो कर प्रयोग करनें से) दूर होती हैं।

गौ के दूध में अनेक रोगों को नाश करने की शक्ति है। यह त्रिदोष नाशक है। वैज्ञानिक दृष्टि से इसमें जल, मक्खन, केसिन, अल्बुमिन चीनी और लवण आदि तत्त्व पर्याप्त मात्रा में रहते हैं। बालक से लेकर वृद्ध तक इसका भिन्न भिन्न रूप से सेवन करते हैं तथा बल, बुद्धि और आरोग्य प्राप्त करते हैं। बच्चों और बूढ़ों के लिए तो यही एक सहारा है। गोदुग्ध अमृत के समान पोषक, लाभदायक तथा उपयोगी है। ऋषि लोग अपना सम्पूर्ण जीवन गोसेवा करके उसके सहारे ही व्यतीत कर देते थे।

वैसे भैंस में दूध देने की शक्ति गाय की अपेक्षा बहुत होती है, परन्तु भैंस का दूध भारी तथा तमोगुणी होता है। तभी तो तमोगुणी भैंसा यमराज का वाहन है और सतोगुणी बैल भगवान का वाहन है।

नियमित गोमूत्र सेवन से दमें की बीमारी दूर हो जाती है, नेत्र ज्योति बहुत बढ़ जाती है। नन्दिनी के मूत्र को आंख में लगाकर रघुराज दिव्य नेत्र हो गये थे और इन्द्र के रथ को तथा इन्द्र और अश्व को देख लिया था–यह कथा शास्त्र में प्रसिद्ध है। गौओं के पीछे चलने से भी सम्पूर्ण पाप नाश हो जाते हैं, ऐसा पराशर स्मृति में आया है।

गवां चैवानुगमनं सर्वपापप्रणाशनम् ॥

(पराशर० १२।८०)

इसी कारण महर्षि वशिष्ठ ने महाभारत अनुशासन पर्व में तथा पद्म पुराण में याचना की कि –

गावो ममाग्रतो नित्यं गावः पृष्ठतः एवं च।

गावश्च सर्व गात्रेषु गवां मध्ये वसाम्यहम् ॥

(महा०अनुशा०८०।३,पद्म०सृष्टिखण्ड ४८)

अर्थात् गौयें मेरे आगे रहें, गौयें मेरे पीछे रहें, मेरा सम्पूर्ण शरीर गौओं से घिरा रहे और मैं सदा गौओं में ही रहूं। इस श्लोक की बड़ी महिमा है।

और इसीलिये दूध देने वाली तथा बूढ़ी गाय तक का सम्मान व रक्षा हमारे यहां धर्म समझ कर की जाती थी। गौ यदि किसी से मर जाती थी तो वह गोहत्यारा कहलाता था और महापापी माना जाता था। वह स्वयं अपना मुंह नहीं दिखाता था। आज हम गौमाता के महत्व को भूल गये। और इसी कारण, न तो हम गौ पालते हैं, न सेवा करते हैं और न उसके महान गुणों से लाभ ही उठा पाते हैं। हमें इस पर ध्यान देना चाहिये। प्राचीन काल में प्रत्येक परिवार गौ पालता

था और तभी कहा जाता था कि भारतवर्ष में दूध दही की नदियां बहती थीं।

महाभारत अनुशासन पर्व अध्याय ८२ में एक उपाख्यान आया है जिसमें वर्णन है कि गोबर में लक्ष्मी का निवास रहता है—

मया गवां पुरीषं वै श्रिया जुष्ट मिति श्रुतम् ॥

(८२।१)

तथा यह भी आया है कि लक्ष्मी का निवास गोबर और गोमूत्र में हो—

अवश्यं मानना कार्या तवास्माभिर्यशस्विनि ।
शकृन्मूत्रे निवसत्वं पुण्यमेतद्धिनः शुभे ॥

(अनुशा० ८२।२४)

अर्थात् हे कल्याणी (लक्ष्मी) तुम हमारे गोबर और गोमूत्र में निवास करो।

उसी स्थान पर इसी प्रकार श्री गंगा जी की गोमूत्र में निवास करने की कथा है। इन सबका रहस्य है। वास्तव में गोमूत्र में वे सब गुण हैं जो गंगा जल में पाये जाते हैं। गंगा जल की कीटनाशिनी शक्ति, पवित्रता, तेज, आरोग्य सभी गोमूत्र में मिलती है।

गौ माता में दो खास शक्तियां हैं। एक चेचक रोग-नाशिनी दूसरी अपुत्रवान को पुत्र देने की शक्ति। इस तत्व को जानकर गोबीज से (वैक्सीनेशन) टीका लगाकर चेचक रोग से बचने की प्रथा चली।

गौ के शरीर में दैवी शक्ति का केन्द्र होने के कारण गौ माता की पूजा करने वाले को तैंतीस कोटि देवता के पूजन का फल प्राप्त होता है। गौ माता की महिमा तथा उपयोगिता और लाभ हर दृष्टि से है। विस्तार भय से कहां तक लिखा जाय।

(देखिये पद्मपुराण, सृष्टिखण्ड अध्याय ४८, महाभारत अश्वमेध पर्व १०३.४५-४६, स्कन्दपुराण, आवन्त्यखण्ड रेवाखण्ड अध्याय ८३।१०४-११०, भविष्यपुराण उत्तर० १५६।१६-२०)

गौ राष्ट्र की सम्पत्ति है

गौ राष्ट्र की सम्पत्ति है। गौ पहले दूध देती है, दूसरे खेती का अवलम्बन बनती और तीसरे दूध एवं अन्न देने के के अतिरिक्त राष्ट्र को भी परिपुष्ट बनाती है—

अपस्त्वं धुक्षे प्रथमा उर्वरा अपरावशे।
तृतीयं राष्ट्रं धुक्षेऽन्नं क्षीरं वशे स्वम् ।।
(देखिये अथर्व० १० काण्ड, १० सूक्त, ८ मन्त्र)

लौकिक और व्यावहारिक दृष्टि से भी गौ हमारे लिये सर्व प्रकार से परमलाभदायक, उपयोगी तथा कल्याण कारिणी है। गौ की बड़ी महिमा है। जो इस प्रकार है-

भगवान् की वन्दना भी 'गो ब्राह्मण हिताय च कहकर की गई है।

नमोब्रह्मण्य देवाय गोब्राह्मण हिताय च।
जगद्धिताय कृष्णाय गोविन्दाय नमो नमः ।।

यह प्रणाम मन्त्र प्रसिद्ध है। भगवान 'गो द्विज हितकारी हैं' ऐसा श्री राम चरित मानस में प्रसिद्ध है। इसके अतिरिक्त शास्त्र में कहा है कि—

गोभिर्विप्रैश्च वेदैश्च सतीभिः सत्यवादिभिः।
अलुब्धै र्दानशीलैश्च सप्तभिर्धायते मही॥

अर्थात् गौ, ब्राह्मण, वेद, पतिव्रता, स्त्री, सत्यवादी, निर्लोभी पुरुष तथा दानशील व्यक्ति--इन सातों ने पृथ्वी को धारण कर रक्खा है। इसमें भी गौ का नाम प्रथम है।

गौ के दूध में तो वैज्ञानिकों ने यहां तक खोज की है कि प्रातःकाल गौ के दूध में और गुण होते हैं और सायंकाल के दूध में और गुण, क्योंकि रात्रि को चन्द्रमा का प्रभाव तथा दिन में सूर्य का प्रभाव गौ पर पड़ता है। यह गौ के दूध की और भी विशेषता है जो अन्यत्र नहीं मिलती। इसके अतिरिक्त काली गौ के दूध में और भी अधिक विशेषता कही गई है।

यह दुग्ध परमशक्तिप्रद, अनेक दोषनाशक तथा अति-उत्तम बतलाया गया है। इसमें रहस्य यह है कि गौ परम सात्विक है, उसके शरीर में देवशक्ति के अनेक केन्द्र कहे गये हैं। रंग के विषय में एक वैज्ञानिक ने कहा है कि "किसी पदार्थ का अपना स्वतन्त्र रंग नहीं होता; सूर्य की शुभ्र किरणों से कुछ रंग तो सोख लिए जाते हैं, अवशिष्ट रंग प्रकाशित हो जाता है। जिस रंग को सूर्य की किरणें प्रकाशित कर देती हैं, वही उस पदार्थ का रंग होता है। जो पदार्थ सब रंगों को प्रकाशित कर देता है, वह श्वेत हो जाता है और जो पदार्थ

सब रंगों को हजम कर लेता है, वह काला होता है, अतः काले रंग में सब रंग छिपे हुए होते हैं।" इससे सिद्ध है कि काली गाय अपने शरीर में सातों रंगों को पचा लेती है और उन रंगों के साथ सूर्य की शक्ति का भी आकर्षण कर लेती है। इसीलिए काली गाय के दुग्ध में अधिक शक्ति मानी गयी है। इन्हीं सब कारणों से गौ माता की इतनी महिमा वर्णन की गई है।

तुलसी

हमारे यहां सनातन धर्म में तुलसी को भी बहुत बड़ा महत्त्व दिया गया है। इसे परम पवित्र तथा धार्मिक दृष्टि से पूज्य माना है। कोई भी धार्मिक घर ऐसा न होगा जहां तुलसी का वृक्ष न लगा हो। यहां तक कि लंका में भी श्री हनुमान जी ने विभीषण के घर में तुलसी के वृक्ष देखे और प्रसन्न हुये—

'नवतुलसिका वृन्द बहु देखि हरष कपिराय ॥'

(सुन्दरकाण्ड दोहा ५)

चित्रकूट में भी भगवान राम जहां रहते थे वहां आश्रम पर पर्णकुटी में भी तुलसी के वृक्ष थे जिन्हें महारानी सीता जी ने तथा श्री लक्ष्मण जी ने स्वयं अपने कर कमलों से लगाये थे-

तुलसी तरुवर विविध सुहाये।
कहुं कहुं सिय कहुं लखन लगाये ॥

(अयो० २३६।७)

इससे इसकी प्राचीन काल से ही महत्ता स्पष्ट है।

धार्मिक दृष्टि से तुलसी का वृक्ष लगाना, नित्य तुलसी पर जल चढ़ाना, पूजा करना- (कार्तिक मास में विशेष महत्व

कहा गया है) हमारे यहां चला आया है। भगवान् के पूजन में तुलसी का प्रयोग होता है, तथा भगवान का भोग बिना तुलसी नहीं लगाया जाता है। चरणामृत में तुलसी दल डाला ही जाता है। इस प्रकार धार्मिक आस्थाओं में यह भारतीय-जीवन पद्धति का एक अभिन्न अंग माना गया है। एक गरीब ग्रामीण से लेकर शहर के धनी व्यक्ति तक तुलसी का महत्त्व समझते तथा आदर करते हैं।

शास्त्रकार कहते हैं कि—

तुलसी काननं चैव गृहे यस्यावतिष्ठते।
तद् गृहे तीर्थ भूतंहि नायान्ति यम किंकराः ॥

अर्थात् जिस घर में तुलसी का वन है वह घर तीर्थ के समान पवित्र है, वहां यम दूत नहीं जाते। यहां यम दूत का भाव जहरीले कीड़े सर्प बिच्छू आदि से भी है। क्योंकि जहां तुलसी का वृक्ष होता है वहां सांप बिच्छू आदि कीड़े नहीं जाते, उसकी गन्ध ही ऐसी होती है जिसके प्रभाव से कुछ कीड़े तो पास ही नहीं आते और कुछ ऐसे होते हैं जिसका नाश ही हो जाता है। और भी कहा गया है कि—

'तुलसी विपिनस्यापि समन्तात् पावनं स्थलम्।
कोश मात्रं भवत्येव गांगेयेनेव चाम्भसा ॥'

अर्थात् तुलसी वन के चारों ओर एक कोश तक की भूमि गंगाजल के समान पवित्र होती है। तथा—

तुलसी गन्धमादाय यत्र गच्छति मारुतः।
दशो दिशाः पुनत्याशु भूत ग्रामान् चतुर्विधान् ॥

अर्थात् तुलसी की गन्ध लेकर जहां हवा जाती है वहां की दशों दिशायें शीघ्र ही पवित्र हो जाती हैं तथा पृथ्वी जल, वायु और आकाश ये चारों तत्व शुद्ध हो जाते हैं।

इनका वैज्ञानिक रहस्य यह है कि तुलसी में रोगनाशक शक्ति तथा आक्सीजन बहुत अधिक मात्रा में होती है। चरक के अनुसार यह हिचकी, खांसी, दमा, फेफड़ों की बीमारी तथा विष निवारक होती है। यह रक्तविकार नाशक, अग्नि-दीपक तथा पाचन क्रिया को शुद्ध करती है। सुश्रुत ने भी इसे रोग-नाशक, तेजवर्द्धक, बात, कफ शोधक, छाती के रोगों में लाभदायक तथा आंतों की क्रिया को शुद्ध तथा स्वस्थ रखने वाली बताया है। पाश्चात्य चिकित्सा विज्ञान में भी इसे खांसी, ब्रांकाइटिस, निमोनियां, फ्लू तथा क्षय आदि रोगों में लाभदायक बताया है। तुलसी का वन क्षय के (टी०बी०) रोगी के लिये एक प्रकार से सेनोटोरियम ही है। इसकी दिव्य-सुगन्ध वायु के साथ मिलकर अनेक कीटाणुओं का नाश करती और फेफड़ों को स्वस्थ बनाती है।

दैनिक प्रयोग में भी तुलसी से बहुत बड़े लाभ हैं। जुकाम, खांसी तथा सरदी लग जाने पर तुलसी की चाय बनाकर पीने से तत्काल लाभ होता है। तुलसी की पत्ती और गुलबनफशा १०-१० तोले तथा बड़ी इलायची, छोटी पीपल, सुगन्धवाला, लाल चन्दन का चूरा और काली मिर्च ये ५-५ तोले लेकर कूट पीसकर रख ले और फिर चाय की तरह प्रयोग में लावे तो इससे बहुत बड़े लाभ हैं। यह देशी लाभकारी चाय है। मलेरिया में तुलसी का काढ़ा एक अमोघ औषधि है। जहां तुलसी होती है वहां मच्छर नहीं जाते। यहां एक बात अवश्य

ध्यान देने की है कि तुलसी में पारे का अंश रहता है अतः इसको दांतों से चबाने का निषेध किया गया है, चरणामृत में भी लोग इसे दांतों से चबाते नहीं। क्योंकि पारे का अंश दांतों को हानि पहुंचाता है, परन्तु यदि औषधि में तुलसी के साथ कालीमिर्च डाल कर प्रयोग किया जाय तो यह कजली के रूप में बड़ी ही सुन्दर और लाभदायक औषधि बन जाती है। अधिक कहां तक कहा जाय सारांश यह है कि तुलसी अनेक रोगनाशक एक चमत्कारिक दिव्य रामबाण महौषधि है। यह वायुमण्डल-शोधक, सुगन्ध विस्तारक, पवित्र भावों की उत्पादक, सात्विकता-वर्द्धक तथा भगवद्भक्ति प्रदायक भगवान का वरदान स्वरूप ही बन कर इस धरती पर आई है। तभी तो इसे विष्णु-प्रिया कहा गया है। ऋषियों ने सनातन धर्म की पद्धति में इसे दोनों समय प्रसाद, चरणामृत में लेने की प्रथा डालकर हमारा महान उपकार किया है कि किसी न किसी प्रकार यह हमारे अन्दर पहुंच कर लाभ करती ही रहे। यहां तक कि जब किसी की मृत्यु निकट आती है और आदमी मरने लगता है तब लोग उसके मुंह में तुलसी और गंगाजल डालते हैं, इससे अधिक महत्व और क्या हो सकता है? इसे 'सर्व व्याधि विनाशनम्' तक कहा गया है। इसकी महिमा तथा गुण अपार हैं इसमें कोई संशय नहीं।

तुलसी के साथ धार्मिक सम्बन्ध जोड़कर हमारे यहां इसकी विभिन्न प्रकार से पूजा, प्रदक्षिणा, आरती आदि करना तथा तुलसीदल सेवन करने का विधान है। हमारे दैनिक जीवन में तुलसी के साथ किसी न किसी तरह सम्बन्ध जुड़ा रहे इसलिये ऋषियों ने इसे इतनी अधिक महत्ता तथा मान्यता दी है। कार्त्तिक मास

में तुलसी फूलती है और उसकी सुगन्ध पहले की अपेक्षा और अधिक बढ़ जाती है इसलिये उन दिनों कार्तिक मास में तुलसी की पूजा, अनुष्ठान तथा उद्यापन व्रत आदि करने का विधान किया गया है जो शारीरिक और मानसिक दोनों दृष्टि से लाभकारी है। इन सबके पीछे वैज्ञानिक दृष्टि कोण और जीवन का उद्देश्य छिपा हुआ है। ये सब परम्परायें अन्ध विश्वास पर ही आधारित हों ऐसी बात नहीं है। अब तो वैज्ञानिक अनुसन्धान और रसायनिकविश्लेषणों के आधार पर यह भी सिद्ध हो गया है कि तुलसी में कीटाणुनाशक तत्त्व और रोगनाशक शक्ति बहुत अधिक मात्रा में है। वायु के साथ यह तत्त्व जहां जहां जाता है वहां वहां अपना प्रभाव डालता है। तुलसी के वृक्ष में एक उड़न शील तेल सा पदार्थ रहता है जो वायु के साथ उड़कर तुलसी के आसपास वातावरण में व्याप्त हो जाता है। अतः जब कोई व्यक्ति तुलसी के आसपास जाता है तब वह तत्त्व श्वास के साथ अन्दर जाकर फेफड़ों में प्रवेश करके उन पर प्रभाव डालता है तथा फेफड़ों के द्वारा रक्त पर पड़कर शरीर के प्रत्येक अणुअणु में पहुंच जाता है जिससे अनेक प्रकार के रोगों का नाश होता है। यह तत्त्व दूषित कीटाणुओं को नाश करता और स्वास्थ्य प्रदान करता है। इसकी मनोहारिणी गन्ध चित्त को प्रफुल्लित कर देती है। इसलिये तुलसी कानन को एक प्रकार का सेनोटोरियम कहा है।

तुलसी की लकड़ी, तुलसी के नीचे की मिट्टी, सभी विलक्षण गुण सम्पन्न हैं। इसमें विद्युत्गुण समाविष्ट हैं। पुराने समय में लोग मकान बनवाते समय हल्दी से रंगे हुये कपड़े में तुलसी की बहुत सी जड़ें बांधकर एक घड़े में रख देते थे और

उस घड़े को मकान की नीव में नीचे दबा देते थे—उनका विश्वास था कि इससे मकान बिजली आदि के गिरने से सुरक्षित रहेगा—ऐसा लेख मिलता है।

इस प्रकार तुलसी भौतिक दृष्टि से भी लाभकारी है। और शरीर शोधन के साथ साथ यह अन्त:करण को भी पवित्र करती है। इसके सेवन से, सेवा पूजा सान्निध्य से, शुद्ध सतोगुण की वृद्धि होती है जिससे मानसिक दोषों का नाश होता है। अहंकार, क्रोध आदि मानसिक विकारों का शमन होकर सद्-गुणों का विकास होता हैं। तुलसी के उपवन में जाने से भक्ति-भावना जागृत होती है और आध्यात्मिक उन्नति में सहायता मिलती है। इसकी महिमा पुराणों के साथ साथ 'तुलसी-पनिषद्' के रूप में भी वर्णन की गई है।

तुलसी परम सात्विक होने के कारण 'विष्णुप्रिया' कही गयी है। उसकी पत्ती में ज्वर, कास आदि अनेक रोगों को शमन करने की शक्ति विद्यमान है। प्लेग तथा हैज़ा के कीटा-णुओं को नाश करने का इसमें चमत्कारिक गुण है।

तुलसी की माला के धारण में भी रहस्य है। विष्णुभक्त इसे विष्णुप्रिया एवं भगवान् की भक्ति प्रदान करने वाली समझ कर उससे जप करते हैं और अपने हृदय पर धारण करते हैं। ऐसा करने से उसकी विलक्षण शक्ति शरीर में प्रवेश किया करती है और धारणकर्ता को सात्विक बनाती है। एक विशेषता यह भी है कि तुलसी की माला धारण करके स्नान करते हुए उस पर जल पड़ने के कारण उसमें से एक चमत्कारिक शक्ति विशेष विद्युत्‌रूप से उत्पन्न होती है। माला से संस्पृष्ट वह जल शरीर के जिस अंग पर जहां पड़ता है, वहां उसका

प्रभाव विशेषरूप से होता है। तुलसी की माला धारण करके स्नान करने वालों का रक्तविकार दूर हो गया है तथा कुष्ठ तक में भी यह लाभदायक सिद्ध हुआ है। इसके धारण करने से सात्विक भाव उत्पन्न होता है।

पीपल

पीपल के वृक्ष को भी सनातन धर्म में बड़ी ही आदर की दृष्टि से देखा जाता है। पीपल की पूजा, पीपल की परिक्रमा तथा पीपल पर जल चढ़ाना आदि क्रियायें की जाती हैं। इसका रहस्य यह है कि पीपल में सन्तानदायक शक्ति है, उसकी छाया स्वास्थ्य वर्द्धक है, पीपल के वृक्ष को स्पर्श करके आई हुई वायु बड़ी लाभदायक होती है। पीपल के फल में भी जो वैशाख ज्येष्ठ में छोटा छोटा सा लगता है उसमें रसायनिक शक्ति है, उससे वन्ध्यापन दूर होता है। तभी तो भगवान ने गीता में—

'अश्वत्थः सर्व वृक्षाणाम्' (१०।२६)

कहकर पीपल को अपनी विभूति बताया है। अथर्ववेद में भी—

'अश्वत्थो देवसदनः' (अथर्व० ५।४१)

कहकर इसे देव मन्दिर बतलाया है। तथा कठोपनिषद् में—

'एषोऽश्वत्थः सनातनः' (२।३।१)

कहकर पीपल को सनातन वृक्ष की उपमा दी है। इस प्रकार प्राचीन ग्रन्थों में इसका वर्णन आया है। पीपल की लकड़ी जलाने का हमारे यहां निषेध है और वह निषेध इसलिये किया गया है कि उससे विषाक्त वायु निकलती है। अग्नि-संपर्क से पीपल की लकड़ी का प्रभाव दूषित हो जाता है तथा जल

डालकर शीतल रखने से पीपल का प्रभाव बहुत ही लाभप्रद रहता है इसलिये पीपल पर जल चढ़ाने का महात्म्य है। पीपल में बहुत बड़ी जीवनी शक्ति है। पीपल की लकड़ी के बने पात्र में दूध आदि पीने से सन्तान की प्राप्ति होती है, पीपल के फलों में भी ये सब गुण विद्यमान हैं।

कुछ और वृक्ष

यही बात बरगद, पाकर तथा आम आदि वृक्षों में भी है। इनको भी पवित्र, लाभकारक तथा उपयोगी माना गया है। इन वृक्षों के नीचे पूजा, जप, ध्यान तथा साधना आदि करने से सिद्धि शीघ्र प्राप्त होती है और सात्विक भाव का उदय होकर साधन सफल होता है। श्रीरामचरित मानस में कागभुशुण्ड जी के आश्रम में भी इसका वर्णन आया है कि वहां किस प्रकार की साधना किस वृक्ष के नीचे होती थी :—

तिन पर एक एक विटप विशाला।
बट पीपर पाकरी रसाला॥
पीपर तरु तर ध्यान सो धरई।
जाप जग्य पाकरि तर करई॥
आंब छाँह कर मानस पूजा।
तजि हरि भजन काज नहिं दूजा॥
बट तर कह हरिकथा प्रसंगा।
आवहिं सुनहिं अनेक बिहंगा॥

(उत्तरकाण्ड ५५।८ तथा ५६।५-७)

बट

बट-वृक्ष जिसे बरगद कहते हैं उसकी भी बड़ी महिमा है, यह हमारे यहां पूज्य माना गया है। महिलायें ज्येष्ठ मास की अमावस को बरगदाही अमावस मानती हैं और इस दिन व्रत रखकर बरगद के वृक्ष की पूजा करती हैं। वटसावित्री का यह व्रत सौभाग्यदायक, आयुवर्द्धक पुष्टिकारक तथा दीर्घ जीवन प्रदाता माना गया है। जिस प्रकार बरगद का वृक्ष बहुत दिनों तक स्वयं रहता है उसी प्रकार वह अपने गुणों से दूसरों को भी दीर्घ जीवन प्रदान करता है। उसकी बड़ी बड़ी विशाल शाखायें, शीतल सघन छाया विश्राम देने के अतिरिक्त स्वास्थ्य भी प्रदान करती हैं। बट-वृक्ष के नीचे सात्वक भाव की उत्पत्ति होती है। ऋषि लोग बट वृक्ष के नीचे आसन लगाकर कथा प्रसंग धार्मिक वार्ता आदि किया करते थे–

'बट तर कह हरि कथा प्रसंगा।'

प्रसिद्ध ही है। चित्रकूट में भगवान राम जहां रहते थे वहां भी बरगद का विशाल वृक्ष था और उस बरगद की छाया में वेदिका बनी हुई थी जहां ऋषि लोग इतिहास, पुराण की कथा कहा करते थे।

श्रीरामचरित मानस में आया है, केवट ने भरत जी को संकेत करते हुये कहा है–

नाथ देखिअहिं विटप विशाला।
पाकरि जम्बु रसाल तमाला॥

जिन्ह तरुवरन मध्य बटु सोहा।
मंजु विसाल देखि मन मोहा॥
तुलसी तरुवर विविध सुहाये।
कहुं कहुं सिय कहुं लखन लगाये॥
बट छाया वेदिका बनाई।
सिय निज पानि सरोज सुहाई॥
जहां बैठि मुनिगन सहित, नित सिय राम सुजान।
सुनहिं कथा इतिहास सब, आगम निगम पुरान॥
(अयो० २३६-२३७)

इस प्रकार यहां पर भी बट वृक्ष की ही महानता प्रधान रूप से वर्णन की गई है। बट का वृक्ष अचल, दृढ़ तथा अक्षय माना गया है। 'बट विश्वास अचल निज धरमा' कहकर इस ओर लक्षित किया गया है। 'अक्षय बट' शास्त्रों में प्रसिद्ध ही है, इसके अतिरिक्त प्रयागराज में आज भी किले में वह प्रतीक रूप में पूजा जाता है, लोग उसके दर्शन के लिये जाते हैं। कलकत्ते में भी एक विशाल बट वृक्ष अपनी प्राचीनता तथा विशालता के लिये प्रसिद्ध है।

प्रलयकाल में भी बट वृक्ष के अक्षय रहने की बात प्रसिद्ध ही है—

'वटस्य पत्रस्य पुटे शयानं
बालं मुकुन्दं शिरसा नमामि।' तथा—

सिय सनेह बटु बाढ़त जोहा।
तापर राम प्रेम सिसु सोहा॥
चिरजीवी मुनि ज्ञान विकल जनु।
बूड़त लहेउ बाल अवलम्बनु॥

इस प्रकार मार्कण्डेय मुनि तथा बट वृक्ष के पत्ते और भगवान का वर्णन किया गया है। बरगद के पत्ते पर सोते हुए भगवान का सहारा मार्कण्डेय मुनि ने लिया जो कि चिरजीवी माने गये हैं। इस प्रकार पौराणिक वर्णन में बट वृक्ष की बहुत बड़ी महिमा कही गयी है।

लौकिक दृष्टि से वैसे भी वृक्षों में दूध वाले वृक्ष श्रेष्ठ माने गये हैं।

बरगद के वृक्ष में भी दूध होता है जो बल वीर्यवर्द्धक पुष्टि-कारक तथा अन्य बहुत से रोगों का नाशक एवं गुणकारी है। आयुर्वेद शास्त्र में इसके फल, दूध, जटा, छाया और छाल सभी को विशेष लाभप्रद बताया है। भगवान शंकर को भी बटवृक्ष अत्यन्त प्रिय है। उनके कैलाश पर्वत पर बट वृक्ष का वर्णन है जहां वे विश्राम करते हैं।

परम रम्य गिरिवर कैलासू।
सदा जहां शिव उमा निवासू॥
तेहि गिरि पर बट विटप विसाला।
नित नूतन सुन्दर सब काला॥

त्रिविध समीर सुसीतल छाया।
शिव विश्राम विटप श्रुति गाया॥
(बालकाण्ड १०५।२-३)

आगे भी जब सती प्रसंग में भगवान् शंकर बैठे तो बट वृक्ष को ही ढूंढ़ा।

तब लगि बैठि अहउं बट छाहीं।
जब लगि तुम ऐहहु मोहि पाहीं॥
(बालकाण्ड ५१।२)

और इसके आगे समाधि भी आपने वटवृक्ष के नीचे ही लगाई—

वरणत पंथ विविध इतिहासा।
विश्वनाथ पहुंचे कैलासा॥
तहं पुनि संभु समुझि पन आपन।
बैठे बट तर करि कमलासन॥
संकर सहज सरूप संभारा।
लागि समाधि अखण्ड अपारा॥
(बाल० ५७।६-७)

भगवान् राम को भी वट प्रिय था, उनकी वटवत्सलता उस समय भी व्यक्त होती है जब सबसे पहले प्रातःकाल ही उन्होंने बरगद का दूध मंगाकर उससे अपनी जटायें सवारीं थीं–

सकल सौच करि राम नहरवा।
सुचि सुजान बटछीर मंगावा॥
अनुज सहित गिर जटा बनाये।......

(अयो० ९३।३-४)

भगवान् रामचन्द्र जी और सीता जी के विषय में और भी कई स्थानों पर बट वृक्ष की प्रियता तथा उपयोगिता का वर्णन आया है। लोग मार्ग में सेवा के लिये बटवृक्ष के नीचे आसन लगा देते थे तथा उनका विश्राम भी वट वृक्ष के नीचे होता था।

'घरिक विलम्ब कीन्ह बट छाहीं॥'

(अयो० ११४-३)

इस प्रकार और भी बहुत से उदाहरण भरे पड़े हैं जिन्हें विस्तार भय से यहां वर्णन नहीं किया जा रहा है।

रहस्य तथा लाभ

बरगद के वृक्ष से धार्मिकता के अतिरिक्त स्वास्थ्य की दृष्टि से तथा लौकिक लाभ भी बहुत होते हैं। बरगद के नीचे बड़ी बड़ी सभायें तथा पंचायतें गांव वाले कर लेते हैं। यह एक शामियाने का काम देता है जिससे बहुत बड़े खर्च की बचत हो जाती है। बरगद की छाया इतनी घनी और विशाल होती है कि बहुत से काम बरगद के नीचे सम्पन्न हुआ करते हैं। ग्रीष्मकाल में बरगद का वृक्ष पथिकों के किये बहुत ही सुख सुविधा प्रदान करता है। बहुत से व्यक्ति एक ही वृक्ष के नीचे विश्राम कर लेते हैं। इस प्रकार बहुत से लाभ हैं।

बरगद की बड़ी बड़ी जटायें (जड़ें) जो उसमें लटकती रहती हैं, अपनी प्राचीनता को प्रकट करती हैं। उसमें बहुत ही गुण होते हैं, अनेक रोगों के नाश करने की शक्ति उसमें है। बट वृक्ष की छाया बड़ी शीतल, सुखदायी तथा स्वास्थ्यवर्द्धक होती है। बरगद में छोटे छोटे फल लगते हैं वे भी बड़े गुणकारी, लाभदायक तथा पुष्टि कारक होते हैं। वट-वृक्ष का वर्णन छान्दोग्य उपनिषद् में—

"न्यग्रोधफल मत आहरेतीदं" (छा० ६।१२।१)

अर्थात् इस (वटवृक्ष) से एक बड़ का फल ले आ—इस प्रकार वट बीज का दृष्टान्त देने के लिये आया है। महाभारत अनुशासन पर्व के अर्न्तगत श्री विष्णु सहस्रनाम में भी—

"न्यग्रोधोदुम्बरोऽश्वत्थ" (१०१)

इस श्लोक में भगवन्नाम के रूप में उसका वर्णन हुआ है। इस प्रकार उपनिषद् में आत्म-ज्ञान के हेतु दृष्टान्त के रूप में तथा श्री विष्णु सहस्रनाम (महाभारत) में भगवन्नाम के रूप में इसका वर्णन होना इसकी महत्ता को सिद्ध करता है।

संस्कार

संस्कार किसे कहते हैं ?

हमारे यहां संस्कारों का बहुत बड़ा महत्व है। संस्कार का अर्थ है—दोष मार्जन। जिस प्रकार स्वर्ण सबसे पहले खान से निकलता है, तब उसका मिट्टी आदि मल हटाना, फिर तपाना और तब फिर उससे आभूषण बनाने का कार्य होता है और फिर उसमें चमक दमक आ जाती है उसी प्रकार मनुष्य का भी

संस्कार किया जाता है जिससे उसमें सम्पूर्ण योग्यता आ जाये। ऋषियों ने इस हेतु संस्कारों का विधान किया तथा उसकी विधि भी वर्णन की। इस पर कुछ प्रकाश डालने की चेष्टा की जा रही है।

विश्लेषण के लिये यदि हम संस्कारों की शास्त्रीय पद्धति पर ध्यान दें तो यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि इसकी विधियां पूर्ण वैज्ञानिक हैं। संस्कार की प्रक्रिया को हम तीन भागों में विभाजित करते हैं। (१) दोषमार्जन अर्थात् दोषों को दूर करना (२) अतिशयाधान अर्थात् दोष दूर कर करके फिर उसमें कोई विशेषता उत्पन्न करना (३) हीनांग पूर्ति अर्थात् दोषों को दूर करने तथा विशेषता उत्पन्न करने के बाद भी जिस वस्तु की कमी रह गयी हो उस की पूर्ति करना। ये तीन बातें होती हैं। संसार में जितनी वस्तुयें पैदा होती हैं वे प्रकृति से कुछ न कुछ दोष अपने साथ अवश्य लाती हैं, उन दोषों को हटाना होता है, और उन्हें उपयोगी बनाने के लिये कुछ न कुछ विशेषता पैदा करनी होती है तथा अन्य आवश्यक पदार्थों को लाकर त्रुटिपूर्ति करके तब उसका उपयोग किया जाता है। प्रकृति की दी हुई भद्दी और मोटी वस्तुओं को सुन्दर और उपयोगी बनाना उसका संस्कार करना है। इसी प्रकार मनुष्य के प्रति भी संस्कारों की बात ऋषियों ने सोचकर उसकी उन्नति तथा कल्याण के लिये नियम बना दिये हैं जिन्हें संस्कार कहते हैं। बाल्यावस्था से ही नहीं वल्कि गर्भ से ही इन संस्कारों का क्रम प्रारम्भ हो जाता है। और गर्भ तथा शैशव काल से ही उनका प्रभाव पड़ने लगता है। बालक को सामने बिठाकर माता पिता वेदमन्त्रों की सहायता से मन में यह भाव रखकर कि हम

इसका दोष मार्जन करके विशेषता उत्पन्न कर रहे हैं-संस्कार करते हैं और उसका प्रभाव शिशु के कोमल अन्त:करण पर अवश्य पड़ता है। इस प्रकार ऋषियों की यह प्रणाली सर्वथा वैज्ञानिक एवं लाभकारी है।

इसे समझाने के लिये यह उदाहरण दिया जा रहा है कि जिस प्रकार हम वस्त्र पहनते हैं। परन्तु यह वस्त्र एक दम से तो इस रूप से आ नहीं जाते। मूल रूप से तो पहले यह कपास के रूप में पैदा होता है। और उस कपास में भी बीज, बिनौला आदि मिला रहता है, तो पहले उसे साफ किया जाता है और फिर साफ करके उससे अच्छी, स्वच्छ रुई निकाली जाती है-अत: यह कार्य उसका 'दोष-मार्जन' संस्कार होता है। और फिर इसके बाद स्वच्छ रुई से सूत कातना होता है तथा सूत कातने के बाद फिर उस से कपड़ा बुना जाता है। कपड़ा बुन कर फिर उसे कोट, कमीज़, कुरता आदि के रूप में लाना होता है-अत: यह उसका 'अतिशयाधान' होता है। और फिर इसके बाद जो उसमें बटन आदि जिस वस्तु की कमी होती है वह लगा दिये जाते हैं— यह उसकी 'हीनांग पूर्ति' होती है। इस प्रकार दोष मार्जन, अतिशयाधान तथा हीनांग पूर्ति इन तीनों क्रियाओं से संस्कार करने के बाद तब प्रकृति से उत्पन्न कपास को हम वस्त्र के रूप में उपयोग करने में सफल होते हैं। कपास को अच्छे वस्त्र के रूप में लाने के लिये हमें इतना संस्कार करना पड़ता है।

इसी प्रकार अन्न आदि की भी बात है। अन्न खेत में पैदा होता है परन्तु जिस प्रकार जिस रूप में वह पैदा होता है उसे उसी प्रकार सीधे सीधे रूप में हम नहीं खा लेते। पहले उसे

बीन, पछोर कर, कंकड़ आदि निकाल कर, साफ़ करके उसका 'दोष मार्जन' करते हैं। फिर कूट पीसकर, छान करके उसे भोजन बनाने योग्य सामग्री के रूप में तैयार करते हैं-यह उसका अतिशयाधान हुआ। और तत्पश्चात् जो उसमें नमक, मसाला, खटाई, मिठाई आदि का मिश्रण कर देते हैं-यह उसकी 'हीनांग पूर्ति' रूप क्रिया होती है। और तब वह खाने योग्य सुन्दर पदार्थ होता है। प्रकृति से उत्पन्न सभी वस्तुओं की यही दशा है। इसलिये उनका संस्कार करना आवश्यक होता है, बिना इसके न तो उसकी पूर्ण रूप से उपयोगिता ही हो पाती है और न उसका अच्छे से अच्छा प्रयोग ही हो पाता है। इसी प्रकार मानव जीवन में भी संस्कार की आवश्यकता है। जिससे उसकी शक्ति, सामर्थ्य, गुण और योग्यता का उपयोग पूर्ण रूप से किया जा सके, उसकी प्रतिभा प्रखर हो जाये। अत: इसी दृष्टि कोण को रखकर ऋषियों ने इसकी पद्धति डालकर हमारे लिये ही कल्याणकारी विधान बना दिया है। संस्कार के द्वारा मनुष्य के अन्दर निहित शक्ति जाग्रत होकर कार्य करने में सक्षम और समर्थ होती है। उसका शरीर शुद्ध, मन निर्मल और बुद्धि प्रखर हो जाती है तथा अन्त:करण पवित्र हो जाता है।

संस्कारों की संख्या

संस्कारों की संख्या गौतम धर्म सूत्र में ४० कही गयी है, अंगिरा ने पच्चीस संस्कार बताये हैं, परन्तु महर्षि श्रीव्यास, श्री जातूकर्ण्य, तथा श्री मनु जी महाराज आदि ऋषियों ने सोलह संस्कारों का वर्णन किया है। तथा सोलह संस्कार ही अधिकांशत:

प्रचलित हैं। श्री मनु जी के अनुसार (१) निषेक (गर्भाधान) (२) पुंसवन (३) सीमन्तोन्नयन (४) जातकर्म (५) नामकरण (६) निष्क्रमण (७) अन्नप्राशन (८) चूड़ाकरण (९) कर्णवेध (१०) उपनयन (वेदारम्भ) (११) केशान्त (१२) समावर्तन (१३) विवाह (गृहस्थाश्रम) (१४) वानप्रस्थ (१५) संन्यास (१६) श्मशान का पितृमेध। यह सोलह संस्कार वर्णन किये गये हैं।

इनका वैज्ञानिक रहस्य

गर्भाधान

संक्षेप में इनके कुछ वैज्ञानिक रहस्य इस प्रकार हैं-गर्भाधान संस्कार से सुन्दर सन्तान की उत्पत्ति होती है, वीर्य तथा गर्भ सम्बन्धी पाप व दोष का नाश होता है तथा कामवासना पर नियन्त्रण भी होता है। भगवान् श्री कृष्ण जी भी कहते हैं—

'धर्माविरुद्धो भूतेषु कामोऽस्मि भरतर्षभ'

(गी० ७।११)

धर्मानुकूल गर्भाधान होने से सन्तान भी धर्मानुकूल चलने वाली, स्वस्थ तथा सुन्दर विचार वाली होती है। सुश्रुत संहिता में कहा गया है कि—

आहाराचार चेष्टाभिर्यादृशीभिः समन्वितौ।
स्त्रीपुंसौ समुपेयातां तयोः पुत्रोऽपि तादृशः॥

(शारीर स्थान २।४६।५०)

अर्थात् स्त्री और पुरुष जिस प्रकार के आहार, व्यवहार तथा चेष्टा आदि से समन्वित होकर समागम करते हैं उसी प्रकार के स्वभाव वाली सन्तान भी उत्पन्न होती है।

गर्भस्थ बालक पर संस्कारों का प्रभाव

गर्भ में स्थित बालक के ऊपर भी माता के संस्कारों का प्रभाव पड़ता है। सुभद्रा के गर्भ में ही अभिमन्यु ने चक्रव्यूह वेधन का प्रसंग अर्जुन के द्वारा सुना, प्रह्लाद को भी गर्भावस्था में नारद जी का उपदेश सुनने का सौभाग्य प्राप्त हुआ जिससे भगवद् भक्त बनने में उस उपदेश का प्रभाव पड़ा। इस प्रकार गर्भावस्था में बालक पर संस्कार का प्रभाव तथा आहार और व्यवहार का प्रभाव अवश्य पड़ता है और इसीलिए माताओं को ऐसे समय में बड़ी ही सावधानी और आचार विचार से रहने की बात कही गई है। उन्हें शुभ कर्माचरण, तथा धार्मिक व उपदेशप्रद सुन्दर सुन्दर कथाओं का श्रवण करना चाहिये जिससे कि उनकी सन्तान भी बहुत सुन्दर बने।

जात-कर्म

जात कर्म संस्कार में सोने की शलाका से मधु और घृत आदि चटाया जाता है जिससे गर्भ दोष निवारण होकर आयु और मेधा की वृद्धि होती है। असम मात्रा में घृत और मधु एक रसायनिक पुष्टिकारक दिव्य औषधि के रूप में बालक को लाभकारी होती है। उससे लार का संचार, रक्त का शोधन, त्रिदोष का नाश, स्मृति, मेधा और कांति की वृद्धि होती है।

नामकरण

नामकरण संस्कार में सन्तान का नाम शुभ रखना चाहिये जिससे उच्चारण में आनन्द के साथ साथ उसका अर्थ भी हृदय को प्रसन्न करने वाला हो। नाम का प्रभाव बहुत बड़ा

पड़ता है। नाम के अनुसार नामी में गुण भी उसी प्रकार आ जाते हैं।

चूड़ाकरण

चूड़ाकरण संस्कार—इसे मुण्डन संस्कार भी कहते हैं। इस संस्कार से बालक के शिर पर होने वाले बाल दृढ़ और सुन्दर हो जाते हैं, गर्भस्थ ब लक के पहले के निकले हुये बाल बहुत कोमल होते हैं जो गिरते तथा टूटते रहते हैं, इसके अतिरिक्त इस संस्कार से बल, आयु, तेज तथा कान्ति की वृद्धि होती है। रक्ताभिसरण की क्रिया भी सुचारु रूप से होने लगती है। गर्भस्थ बालों के मुण्डन से शिर की गर्मी निकल जाती है जिससे सिर के फोड़े फुन्सी तथा अन्य शिरोरोग रहने का डर नहीं रहता। मुण्डन के बाद जो सिर पर मक्खन आदि लगा दिया जाता है उससे सिर के अन्दर शीतलता आ जाती है, सिर हल्का हो जाता है तथा बुद्धि की वृद्धि होती है। मल निवारक क्रिया के साथ साथ सुन्दर सौभाग्यदायक आरोग्य तथा कान्तिवर्द्धक और मस्तिष्क के लिये भी हितकारी यह संस्कार होता है। इसका प्रभाव नेत्रों की ज्योति पर भी पड़ता है अतः इससे चक्षु रोग भी नहीं होते। मस्तिष्क ज्ञान शक्ति का केन्द्र तथा भण्डार है तथा मानव जीवन में ज्ञान तथा धर्म की ही प्रधानता है अतः इस केन्द्र को सुसंस्कृत बना कर ज्ञान के द्वारा अपने जीवन को धार्मिक सदाचार युक्त व्यतीत करके परम कल्याण की प्राप्ति करना मानव जीवन का परम उद्देश्य है।

कर्णवेध

इसी प्रकार चूड़ाकरण के बाद कर्णवेध संस्कार भी होता है।

'कृत चूड़ास्य बालस्य कर्णवेधो विधीयते।'

(व्यास-स्मृति १।१८)

इस संस्कार में बालक के कान छेदकर, उसमें सोने की बाली आदि आभूषण डाल देते हैं।

'रक्षा भूषण निमित्तं बालस्य कर्णौ विध्येते'

(सुश्रुत संहिता सूत्र स्थान)

बाल्यावस्था में कान छेद देने से बालक को बहुत से रोग नहीं होते। आज भी यहां श्वास रोग की निवृत्ति के लिये कान छेदाने लोग बड़ी बड़ी दूर से आते हैं और लखनऊ जिले में रहीमाबाद के पास कटौली ग्राम में एक व्यक्ति कान छेदता है उससे छेदाकर लोग जाते हैं जिससे श्वास तथा कुछ अन्य रोगों का नाश हो जाता है। इसका तो आज भी प्रत्यक्ष प्रमाण है। बाल्यावस्था में यह संस्कार हो जाने के कारण फिर इस भय की तथा रोग की आशंका नहीं रहती।

वेद में कहा गया है कि—

नैनं रक्षांसि पिशाचाः सहन्ते...

योविभर्ति दाक्षायणं हिरण्यं।

(शौ० अथर्व-सं० १।३५।२)

अर्थात् जो दाहिने कान में सुवर्ण धारण करता है उसके तेज को राक्षस नहीं दबा सकते।

कर्णवेध से रोग नाश

कर्ण वेध से अन्त्रज अण्ड वृद्धि, हार्निया आदि भी नहीं होती क्योंकि कान की नस का उससे सम्बन्ध होता है। सुश्रुत संहिता में चिकित्सा स्थान में आया है कि—

शंखोपरि च कर्णान्ते त्यक्त्वा यत्नेन सेवनीम् ।
व्यत्यासाद् वा शिरां विध्येदन्त्रवृद्धि निवृत्तये ।।

(१९।२१)

अर्थात् गले से ऊपर, कान के निचले भाग में, सेवनी को यत्नपूर्वक छोड़कर अथवा व्यत्सादपूर्वक (अर्थात् दाहिनी ओर की आंत बढ़ी हो तो बायें कान और बायें ओर बढ़ी हो तो दाहिने कान की) नस को छेदे। इससे आंतों की वृद्धि दूर होती है। यह संस्कार प्राचीन काल से चले आये हैं। श्री रामचरित मानस में भी आया है-

कर्ण वेध उपवीत विवाहा।
संग संग सब भये उछाहा ॥

आदि सब संस्कार भगवान् श्री रामचन्द्र के हुये थे।

इस प्रकार संस्कारों में धार्मिकता के साथ साथ उसका वैज्ञानिक लाभ तथा रहस्य छिपा हुआ है।

शिखा

कात्यायन स्मृति में कहा गया है कि-

सदोपवीतना भाव्यं सदा बद्ध शिखेन च ।
विशिखो व्युपवीतश्च यत् करोति न तत् कृतम् ।।
(कात्यायन स्मृति १।४)

अर्थात् सर्वदा यज्ञोपवीत पहने रहे और शिखा में गांठ बंधी रहना चाहिये। बिना यज्ञोपवीत या बिना शिखा में गांठ लगाये जो कर्म किया जाता है वह न करने के समान होता है।

अब इस स्थान पर शिखा के सम्बन्ध में कुछ वैज्ञानिक दृष्टि से लिखकर प्रकाश डाला जाता है।

मुण्डन संस्कार में बाल्यावस्था में अन्य केशों को हटाकर एक शिखा रख दी जाती है। यह हिन्दू जाति का एक विशेष चिह्न माना गया है। यह शिखा ब्रह्मरन्ध्र के ठीक ऊपर रखी जाती है। ब्रह्मरन्ध्र के द्वारा सूर्य से प्राण शक्ति तथा अन्य शक्ति आती रहती है। बंधी हुई शिखा विद्युत् शक्ति को बाहर जाने से रोकती है। अतएव सन्ध्या वन्दनादि कर्म, उपासना तथा योगसाधना के समय ग्रन्थि-बद्ध शिखा हमारे ब्रह्मरन्ध्र पर रहने से हमारा अतिशय तत्त्व निकलकर बाहर न जा सकेगा। साधना तथा उपासना की शक्ति हमारे अन्दर ही सुरक्षित तथा केन्द्रित रहेगी जिससे हम तेजवान, कान्तिवान प्रतिभाशाली तथा साधना शक्ति से सम्पन्न बने रहेंगे।

और भी विशेष बात यह है कि—

शिखा जहां पर होती है वह स्थान तो एक बड़ा महत्त्वपूर्ण स्थान है, सम्पूर्ण नाड़ियों का पुंज वहां पर रहता है। वह स्थान शक्ति का एक प्रधान केन्द्र है। योगी लोग इसी स्थान पर सहस्रदल कमल अथवा सहस्रार नामक चक्र बताते हैं। ब्रह्मरन्ध्र के इस स्थान पर शिखा के द्वारा केन्द्र की रक्षा होती है तथा बाहर से शक्ति खींचने की सहायता मिलती है और अन्दर की सुरक्षित शक्ति बाहर न निकलने पावे इस हेतु

शिखा ग्रन्थि बन्धन द्वारा आन्तरिक शक्ति की भी रक्षा होती है। ध्यान तथा योग साधना के समय शक्ति तथा ओज का आकर्षण इसी स्थान से होता है जिसमें शिखा से बहुत बड़ी सहायता मिलती है। जिस प्रकार रेडियो के एरियल में (खम्भे या लोहे की सलाख) से आवाज पकड़ी और खींची जाती है उसी प्रकार शक्ति का आकर्षण शिखा से होता है और जिस प्रकार साइकिल के वालट्यूब से हवा भरी तो जाती है परन्तु बाहर नहीं निकल पाती उसी प्रकार शिखा की गांठ से शक्ति बाहर नहीं निकल पाती।

एक वैज्ञानिक पण्डित का मत

एक पश्चिमी वैज्ञानिक पंडित विक्टर ई० क्रोमर ने जो व्रिल नामक ओजः शक्ति का आविष्कार किया है उसके विषय में वर्णन करते हुये अपनी पुस्तक 'विल कल्पका' में एक स्थान पर उन्होंने (अंग्रेजी भाषा) में लिखा है कि—

ध्यान के समय में ओजः शक्ति प्रकट होती है। किसी वस्तु पर चित्त एकाग्र करने से ओजः शक्ति उसकी ओर दौड़ती है। यदि परमात्मा पर चित्त एकाग्र किया जाय तो मस्तक के ऊपर शिखा के रास्ते से ओजः शक्ति प्रकट होती है और परमात्मा की शक्ति उसी पथ से अपने भीतर आया करती है। सूक्ष्म दृष्टि-सम्पन्न योगी इन दोनों शक्तियों के सुन्दर रंग को देख भी लेते हैं। जो शक्ति परमात्मा से अपने भीतर आती है उसकी सुन्दरता का वर्णन नहीं किया जा सकता (व्रिल कल्पका) इस प्रकार आधुनिक विज्ञान के द्वारा भी यह सिद्ध है कि शिखा के द्वारा ऊपर से शक्ति प्राप्त होती है।

भारतीय संस्कृति में शिखा हिन्दुत्व की प्रतीक है। मस्तक-विद्या के आचार्यों का कथन है कि शिखा-स्थान मस्तिष्क की नाभि है, यह केन्द्र स्थान है। इस केन्द्र से उन सूक्ष्म तन्तुओं का संचालन होता है जिनका प्रसार समस्त मस्तिष्क में हो रहा है तथा जिनके बल पर अनेक मानसिक शक्तियों का पोषण तथा विकास होता है। ऐसे महत्त्वपूर्ण मर्मस्थान पर शिखा एक सुरक्षा कवच के समान रहती है। शिखा के बालों से अनावश्यक सर्दी गरमी का प्रभाव उस स्थान पर नहीं पड़ता, उसकी सुरक्षा इससे सदा बनी रहती है। शिखा से वासनाओं का शमन होता है तथा शिखा के बाल, आकाश से प्राण वायु तथा अन्य पोषक शक्तियों को खींचते रहते हैं जिससे मस्तिष्क चैतन्य, स्वस्थ, पुष्ट और निरोग रहता है। शिखा दैवी-सन्देशों को प्राप्त करने का एक स्तम्भ सा है, शिखा से मनोबल की वृद्धि होती है। प्राचीनकाल में किसी को दण्ड देने, तिरस्कृत तथा अपमानित करने के लिये उसका सिर मुंड़ा दिया जाता था जिससे उसका मनोबल गिर जाता था। नाड़ी तन्तु शिथिल हो जाने से जोश ठण्डा पड़ जाता था।

झाड़ फूक करने वाले लोग शिखा को पकड़ कर कुछ शक्तियों पर अधिकार प्राप्त कर उसे वश में करके अपने मन्तव्य में सफल होते हैं। शिखा स्पर्श से शक्ति का संचार होता है। यह शक्ति तथा मनोबल को बढ़ाती है। हिन्दुओं की यह प्रतिष्ठा है। चाणक्य ने तो शिखा को हाथ में लेकर नन्द-वंश के नाश करने की प्रतिज्ञा की थी। इस प्रकार प्रत्येक हिन्दू को अपने सिर पर शिखा रखनी चाहिये। आजकल लोग जो इसकी उपेक्षा करने लगे हैं वह हमारे लिये सभी

दृष्टि से हानिकारक है। जाति-हानि, व्यक्तिगत तथा समष्टि-शक्ति की हानि के साथ साथ परम्पराओं पर भी आघात होता है, जिसका परिणाम किसी प्रकार अच्छा नहीं।

विवाह

इसी प्रकार विवाह संस्कार भी अतिशयाधान रूप संस्कार है। वह स्त्री में दूसरे कुल से सम्बद्ध होने का अतिशय उत्पन्न करता और स्त्री और पुरुष दोनों को मिलाकर एक रूप बना देने के कारण वह हीनांगपूर्ति भी करता है जिससे एक रूपता प्राप्त कर दोनों पति पत्नी गृहस्थाश्रम चलाने के योग्य तथा यज्ञ यागादि सम्पादित करने के उपयोगी बन जाते हैं। पत्नी के देह, प्राण तथा मन आदि का दृढ़ सम्बन्ध पति के देह, प्राण तथा मन आदि से जोड़ देना ही इस संस्कार का लक्ष्य है जिसकी विधियां बहुत ही वैज्ञानिक हैं।

विशेष सूक्ष्म बात इस संस्कार में यह है कि स्वभावत: प्राणी का अपने उत्पादक कुल के साथ सूत्र सम्बन्ध बंधा रहता है। जिनके अंशभूत रजवीर्य से शरीर की उत्पत्ति हो उस शरीर का उन माता पिता से सूत्र सम्बन्ध रहना प्राकृतिक-नियम से सिद्ध है। अंश का सम्बन्ध अंशी से रहता ही है। इसी प्रकार माता पिता का भी शरीर जिन दादा, दादी, नाना, नानी आदि के अंश से बना था उनके साथ भी परम्परा-सम्बन्ध पौत्र आदि का रहता है। इस सम्बन्ध की परम्परा सप्तम पुरुष तक (सात पीढ़ी तक) जाती है, इस प्रकार अध्यात्म दृष्टि से देखकर धर्म शास्त्रों में ऋषियों ने व्यवस्था की है। सप्तम पुरुष के आगे यह सूत्र सम्बन्ध नहीं रहता, अगर

रहता है तो बहुत अल्प। अस्तु, स्त्री का भी इसी प्रकार का अपने मातृ पितृ कुल में जो सूत्र सम्बन्ध बंधा हुआ है उसका वहां से विच्छेद कर पतिकुल में उसका सम्बन्ध सूत्र जोड़ देना-यही विवाह संस्कार का उद्देश्य है। धर्म शास्त्रों में स्पष्ट लिखा है कि विवाह की सप्तपदी के सप्तम पद में स्त्री अपने कुल गोत्र से विच्छिन्न हो जाती है और पति के शरीर, मन, वाक्, प्राण के साथ उसका सम्बन्ध जुड़ जाता है। सम्बन्ध-विच्छेद का मुख्य कारण प्रदान करने की क्रिया है, दा धातु का अर्थ ही दाता के स्वत्व की निवृत्ति और प्रतिग्रहीता के स्वत्व का उत्पादन है। पिता दान करता हुआ अपने स्वत्व को उससे हटा लेने की भावना करता है और पति ग्रहण करने की भावना करता है। अन्य वैज्ञानिक क्रियाओं के साथ साथ पिता की इस भावना से उस कुल से उसका सम्बन्ध विच्छेद हो जाता है। यह अद्भुत शक्ति वेद मन्त्रों और विवाह की वैज्ञानिक क्रियाओं की है कि वे एक जगह से सम्बन्ध-सूत्र को विच्छिन्न करके दूसरी जगह जोड़ देते हैं। विवाह में जिन मन्त्रों का प्रयोग होता है उनका अर्थ भी यही है। यथा-प्राणास्ते प्राणान् सन्दधामि…इत्यादि।

वेद कहता है कि मैं अपने प्राणों से तेरे प्राणों का सम्बन्ध जोड़ता हूं, मन से मन का, वाक् से वाक् का, इन्द्रियों से इन्द्रियों का इत्यादि-वेद वाक्यों की अलौकिक शक्ति और मन की तदनुकूल भावना से यह सब संगठित हो जाता है, ऐसा विश्वास है। अग्नि में लाजा होम करते समय भिन्न भिन्न देवताओं से यही प्रार्थना भी की जाती है कि वे देवता इस कुल से इसका विच्छेद कर दें और वर के नये कुल में ऐसा दृढ़

सम्बन्ध स्थापित कर दें जिसका कि कभी विच्छेद न हो। देवता सूक्ष्म जगत के तत्त्व और स्थूल जगत् के परिचालक हैं। अतः यह सम्बन्ध दृढ़ हो जाता है।

परस्पर योग निर्माण में और उसके सम्बन्ध को दृढ़ करने में जिन जल और अग्नि की शक्ति मानी जाती है उनका उपयोग विवाह संस्कार में पूर्ण रूप से किया जाता है। एक दूसरे के हाथ मिलाने से परस्पर की विद्युत् का संयोग होता है, यह भी विज्ञान सिद्ध है। अतः वर वधू का पाणिग्रहण करता है और वधू का पिता उस समय उन दोनों के मिले हुये हाथों पर जल का प्रक्षेप करता है। इससे दोनों विद्युतों का संश्लेषण कर अग्नि हवन के द्वारा वेद मन्त्रों से उसे दृढ़ कर दिया जाता है। इन बातों से सिद्ध है कि अन्यान्य जातियों की तरह भारतीयों का विवाह केवल मनमाना सम्बन्ध नहीं किन्तु एक वैज्ञानिक दृढ़ सम्बन्ध है, जो जन्मान्तर तक भी बना रहता है।

इसी प्रकार सूक्ष्म शरीरों का भी सम्बन्ध जोड़ने में सहायक क्रियाओं का उपयोग होता है। अग्नि प्रदक्षिणा करना, तथा कम से कम सात पग भूमि में साथ साथ चलना सप्तपदी आदि की क्रियायें की जाती हैं। जिससे मैत्री भाव व मन का मिल जाना होता है। एक साथ हाथ पैर संचालन-क्रिया के सम्बन्ध सहित ग्रन्थि बन्धन के साथ साथ, सात पांव बराबर चलने से परस्पर की विद्युत् शक्ति का संक्रमण होता है और यह क्रिया परस्पर स्नेह रूप मित्रता की वैज्ञानिक दृष्टि से उत्पादक है। जिससे यह सम्बन्ध धीरे धीरे दृढ़ हो जाता है।

दृढ़ सम्बन्ध स्थापित करने के लिये जन्मपत्रों का मेलापक ग्रहों का विचार आदि विवाह सम्बन्ध करने से पूर्व किया जाता है। सूर्यचन्द्र आदि ग्रहों का प्रभाव एक का दूसरे पर कैसा पड़ेगा यह सब सूक्ष्म विचार तक किये जाते हैं। जाति गोत्र आदि का भी विचार होता है। जो स्त्री पुरुष अत्यन्त सन्निकट अर्थात् एक ही गोत्र या कुल के हैं उनका सम्बन्ध सन्तान के लिये लाभदायक नहीं होता। इसलिये सगोत्र विवाह ठीक नहीं माना जाता। इसी प्रकार अत्यन्त दूर का सम्बन्ध भी जैसे भिन्न भिन्न वर्ण और जाति के हों तो वे भी नहीं जुड़ते अत: ऐसे विवाह आर्य-संस्कृति में प्रशस्त नहीं माने गये हैं। जो न अत्यन्त निकट हों, न दूर हों उन मध्यम श्रेणी के वर वधू को ही विचार कर विवाह सम्बन्ध में जोड़ा जाता है। इस प्रकार की वैज्ञानिकता विवाह संस्कार में निहित है।

उपनयन अथवा यज्ञोपवीत संस्कार

इसी प्रकार यज्ञोपवीत अथवा उपनयन संस्कार भी हमारे यहां का अत्यन्त गूढ़ संस्कार है। संक्षेप में उसके विषय में यहां कुछ लिखा जाता है। उपनयन का अर्थ है—'उप = समीप में, नयन = ले जाना' अर्थात् समीप ले जाना। किसके? आचार्य के अथवा ब्रह्म (वेद) के। इसमें आध्यात्मिक, आधिदैविक तथा आधिभौतिक तीनों सिद्धान्त हैं। प्रथम तो आचार्य से शिष्य का सम्बन्ध होता है, फिर वैदिक सम्बन्ध होता है और फिर उसे ब्रह्मचर्य आदि अनेक सदाचार की शिक्षा दी जाती है। उपनयन संस्कार में यज्ञोपवीत धारण कराया जाता है। अग्नि, जल आदि देवताओं के समक्ष उस बालक का गुण तथा

देवताओं से सम्बन्ध निश्चित होता है और तभी से उसे यज्ञ का भी अधिकार प्राप्त होता है, अतः उस सूत्र का नाम 'यज्ञोपवीत' भी है। यज्ञोपवीत में नौ तन्तु होते हैं। उन नौ तन्तुओं के देवता क्रम के ॐकार, अग्नि, अनन्त, चन्द्र, पितृगण, प्रजापति, वायु, सूर्य तथा सर्व देवता हैं, जिनके गुण भी उक्त क्रम से ब्रह्मज्ञान, तेज, धैर्य, सर्वप्रियता, स्नेहशीलता, प्रजापालन, बल, प्रकाश (ज्ञान) तथा सात्विकता हैं। इन सब गुणों का आधान तथा इन देवताओं का स्मरण उन तन्तुओं से होता है। उसकी तीन लड़ियां देव, ऋषि तथा पितृऋण को चुकाने का स्मरण कराती है और वाक्, काय, मनःसंयम तथा असत्यत्याग, ब्रह्मचर्य-धारण, मनोनिग्रह आदि की ओर संकेत करती है।

ब्रह्मा ने यज्ञ सूत्र बनाया, विष्णु ने त्रिगुणित किया और रुद्र ने ग्रन्थि दी, सावित्री देवी ने अभिमन्त्रित किया, अतः उसके धारण में इनका स्मरण होता है। त्रिगुणमयी सृष्टि को नियमपूर्वक वेदरूप कर्मकाण्डादि नौका द्वारा पार करके परब्रह्मरूप परमात्मा में नित्य सम्बन्ध प्राप्त करने की चेतावनी देना इसका महत्त्वपूर्ण लक्ष्य है। अन्य भी अनेक विस्तृत तथा गूढ़ रहस्य हैं जिनका विस्तृत वर्णन विस्तारभय से यहां नहीं किया जा रहा है।

इस संस्कार में भी दोषमार्जन तथा अतिशयाधान होता है। विद्या प्रारम्भ करने के लिये बुद्धि को विकसित करना और दृढ़ करके प्रखर बनाना आवश्यक है। इस संस्कार में सूर्य की आराधना होती है। गायत्री मन्त्र का जप तथा दीक्षा होती है। गायत्री में सविता देवता है, तथा बुद्धि में सविता

अर्थात् सूर्य का अंश तेज रूप में माना जाता है। गायत्री वेद माता है जिससे ज्ञान की प्राप्ति होती है। इस संस्कार के करते समय अग्नि में आहुति दी जाती है, पलाश का दण्ड हाथ में रहता है, पलाश की समिधा, पलाश के पत्ते आदि–पलाश का अधिकांश रूप में उपयोग रहता है। क्योंकि पलाश स्मरण शक्तिवर्द्धक है तथा बुद्धि को दृढ़ करने और प्रखर बनाने में बहुत सहायता देता है तथा शारीरिक बलवर्द्धक और वीर्य रक्षा में भी बहुत उपयोगी है। ब्रह्मचर्य की रक्षा के लिये मूंज की मेखला आदि का प्रयोग इस संस्कार में किया जाता है। इस दृष्टि से ये सारे पदार्थ भौतिक विज्ञान से सम्बन्धित और लाभकारी हैं जिनका उपयोग इस संस्कार में किया जाता है। इसकी पद्धति भी पूर्ण रूप से वैज्ञानिक है। इस संस्कार से व्यक्ति ब्रह्म से सम्बन्ध स्थापित करता है। ब्रह्म का नाम है वेद, उसमें चरण करने वाले होने से उन्हें ब्रह्मचारी कहा जाता है।

इस उपनयन संस्कार में गुरु के समीप बालक पढ़ने जाता है। वहां विधिवत् शिक्षा प्राप्त करके, आदर्श चरित्रवान बन कर तब संसार के कर्मक्षेत्र में वे बड़े ही प्रतिभाशाली तथा शक्ति सम्पन्न होकर निकलते हैं। निर्मल अन्त:करण, प्रखर-बुद्धि, मेधावी तथा ज्ञान सम्पन्न, वीर्यवान, बलवान तथा सदाचारी होकर अपने परम नि:श्रेयस की ओर प्रवृत्त होते हैं। जैसा कि श्रीमद्भागवत में धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष इन चारों पुरुषार्थों के प्रयोजन को दिखलाते हुये कहा गया है कि—

धर्मस्य ह्यापवर्गस्य नार्थोऽर्थायोपकल्पते।
नार्थस्य धर्मैकान्तस्य कामो लाभाय हि स्मृतः॥

कामस्यनेन्द्रियप्रीतिर्लाभो जीवेत यावता।
जीवस्य तत्त्व जिज्ञासा नार्थो यश्चेह् कर्मिभिः ॥
(श्रीमद्भागवत १।२।९-१०)

अर्थात् अपवर्ग साधक धर्म का प्रयोजन केवल अर्थ (धन) ही नहीं है और न धर्म साधक अर्थ का फल केवल काम (भोग) ही है। काम का फल भी जीवन पर्यन्त इन्द्रिय-लालन ही नहीं है। इस जीवन का लाभ तो तत्त्व जिज्ञासा ही है, इस लोक में कर्म उसका प्रयोजन नहीं।

तात्पर्य यह है कि धर्म का प्रयोजन अर्थोपार्जन नहीं है बल्कि इसका प्रयोजन तो मोक्ष ही मानना चाहिये, इसी प्रकार अर्थ अर्थात् धनोपार्जन का प्रयोजन भी धर्म हेतु उपयोग करने में मानना चाहिये अर्थात् आहार विहार आदि जीवन रक्षार्थ हैं न कि इन्द्रिय प्रतिभोग के लिये हैं और उसी प्रकार जीवन का प्रयोजन भी तत्त्वज्ञान में है न कि साधारण कर्म करने में है—इस प्रकार मानना और समझना चाहिये। उपनयन अथवा यज्ञोपवीत संस्कार द्वारा ब्रह्मचारी इसी उद्देश्य को लेकर संसार क्षेत्र में उतरता है। उपनयन संस्कार हो जाने के पश्चात् सन्ध्या तथा गायत्री-जप नित्य करना चाहिये। गायत्री वेदमाता है। सम्पूर्ण वेदों का अर्थ गायत्री मन्त्र के अन्दर निहित है। जिस प्रकार एक छोटे से बीज में बहुत बड़ा वृक्ष निहित रहता है। उस वृक्ष के शाखा, पत्र, पुष्प, फल आदि सब उस बीज के अन्दर निहित रहते हैं उस प्रकार गायत्री मन्त्र का एक एक अक्षर बीज है जिसमें अपूर्व शक्ति छिपी हुई है। उसमें लौकिक पारलौकिक सभी प्रकार के फल देने की

शक्ति विद्यमान है। सांसारिक मनोकामनायें भी गायत्री मन्त्र से पूरी होती हैं। गायत्री के अनुष्ठान से बड़े बड़े कार्य सिद्ध किये जाते हैं। बुद्धि को प्रकाश तथा प्रेरणा देने वाली तो यह प्रसिद्ध ही है। सन्ध्या के साथ साथ गायत्री जप का विधान इसीलिए ऋषि मुनियों ने बना दिया है कि उससे लाभ उठाने में हम वञ्चित न रह जायें।

गायत्री में सत्, रज, तम शक्तियां विराजमान हैं। सत् का बीज स्वरूप 'ह्रीं' जिसे सरस्वती कहते हैं, रज का बीज स्वरूप 'श्रीं' जिसे लक्ष्मी कहते हैं तथा तम का बीज स्वरूप 'क्लीं' जिसे काली कहते हैं–सब इसमें निहित हैं।

गायत्री के चौबीस अक्षरों में सम्पूर्ण शास्त्र की शिक्षा छिपी हुई है। इसे सभी लोग परम श्रेष्ठ मन्त्र मानते हैं। इससे आयु, विद्या, सन्तान, कीर्ति, धन तथा ब्रह्मतेज सभी कुछ प्राप्त होता है। गायत्री साधना से हमारे अन्त:करण का मल, विक्षेप और आवरण दूर हो जाता है, बुद्धि विकसित तथा प्रखर हो जाती है जो सूक्ष्माति सूक्ष्म विचार करने में समर्थ होती है जिससे आध्यात्मिक उन्नति होती है। एक गायत्री की ही साधना से तमाम फल प्राप्त किये जा सकते हैं। गायत्री की महिमा अपार है, गुण अनन्त हैं। इसका तो प्रकरण ही अलग है। इस स्थान पर तो केवल यह कहना है कि यज्ञोपवीत संस्कार द्वारा गायत्री मन्त्र से सम्बन्ध स्थापित हो जाता है, गायत्री जप का अधिकार प्राप्त हो जाता है, अत: गायत्री जप अवश्य करना चाहिये।

यज्ञोपवीत परम पवित्र है। इसे सदा धारण किये रहना चाहिये।

ब्रह्मोपनिषद् में कहा गया है—

यज्ञोपवीतं परमं पवित्रं प्रजापतेर्यत्सहजं पुरस्तात् ।
आयुष्यमग्र्यं प्रतिमुञ्च शुभ्रं यज्ञोपवीतं बलमस्तु तेजः॥

अर्थात् यज्ञोपवीत परम पवित्र है, प्रजापति ईश्वर ने इसे सहज बनाया है। यह आयुवर्द्धक और पवित्रता देने वालों में अग्रणी है। यज्ञोपवीत बल और तेज प्रदान करता है। इस मन्त्र से यज्ञोपवीत धारण किया जाता है। यज्ञोपवीत पवित्र रहना चाहिये। अंगिरा स्मृति में कहा गया है कि—

कृत्वा यज्ञोपवीतं तु पृष्ठतः कण्ठ लम्बितम् ।
विण्मूत्रं तु गृही कुर्याद्वा कर्णे समाहितः ॥

अर्थात् यज्ञोपवीत पीछे से कण्ठ में करके अथवा कान पर टांग कर गृहस्थ मल मूत्र त्याग करे।

जनेऊ कान पर क्यों चढ़ाया जाता है

इसका रहस्य यह है कि शौचादि के समय यह अपवित्र न हो जाय। अशुद्ध पदार्थ के साथ अथवा अशुद्ध अंग के साथ इसका स्पर्श न हो जाय। इसलिये इसे उस समय कान पर चढ़ा दिया जाता है। शिरोभाग पवित्र माना गया है। अतः कान पर चढ़ा देने से मानों वह इस पर टांग दिया जाता है जिससे मल मूत्रादि की क्रिया से वह अपवित्र न हो। कान पर लपेट देने से उपवीत ऊंचा हो जाता है। मनुस्मृति में कहा गया है—

ऊर्ध्वं नाभेर्मध्यतरः पुरुषः परिकीर्तितः ।
तस्मान्मेध्यतमं त्वस्य मुखमुक्तं स्वयम्भुवा ॥
(मनु० १।६२)

दाहिने कान को पवित्र माना गया है क्योंकि दाहिने कान में वायु, चन्द्रमा, इन्द्र, अग्नि, मित्र तथा वरुण ये सब देवता ब्राह्मण के दाहिने कान में रहते हैं, ऐसा शास्त्र में कहा गया है। यथा—

मरुतः सोम इन्द्राग्नी मित्रावरुणौ तथैव च।
एते सर्वे च विप्रस्यय श्रोत्रे तिष्ठन्ति दक्षिणे ॥

(गोभिल गृह्य संग्रह २।८०)

और इसीलिये किसी अपराध पर, गलत काम करने पर तथा अन्य छोटी मोटी अशुद्धताओं पर कहा जाता है कि अपने कान पकड़ो। कान को छूने, पकड़ने या दबाने से भूल सुधारने की एक प्रकार से क्रिया हो जाती है। अध्यापक या माता पिता का बालकों के कान पकड़ने का यही प्रयोजन रहता है कि उसकी त्रुटियों का शोधन होकर मनोबल का विकास हो तथा पवित्रता और देवत्व की रक्षा हो।

पराशर स्मृति में कहा गया है—

श्रुते निष्ठीवने चैव दन्तोच्छिष्टे तथानृते।
पतितानां च सम्भाषे दक्षिणं श्रवणं स्पृशेत् ॥
अग्नि रापश्च वेदाश्च सोमसूर्यानिलस्तथा।
एते सर्वेऽपि विप्राणां श्रोत्रे तिष्ठन्ति दक्षिणे ॥

(पारा० ७।३८-३९)

अर्थात् छींकने, थूकने, दांत जूठे होने, झूठ बोलने तथा पतितों से सम्भाषण करने पर अपने दाहिने कान का स्पर्श कर लेना चाहिये। क्योंकि अग्नि, जल, वेद, चन्द्रमा, सूर्य,

पवन यह सब ब्राह्मण के दाहिने कान में निवास करते हैं। इससे आगे अपराध न करने की चेतावनी तथा किये हुये अपराध के प्रायश्चित स्वरूप शुद्धि के लिये क्रिया भी हो जाती है।

इसमें विज्ञान की एक बात यह भी है कि शरीर में कर्णेन्द्रिय आकाश से सम्बन्धित है। हमारे शरीर में पृथ्वी तत्त्व सम्बन्धी नासिका, जल सम्बन्धी जिह्वा, तेज सम्बन्धी नेत्र, वायु सम्बन्धी त्वचा तथा आकाश सम्बन्धी इन्द्रिय कान है। वेदान्त में भी इन देवताओं का इन्हीं इन्द्रियों से ही सम्बन्ध बताया गया है। देशकाल से श्मशान (गाड़ने वाली भूमि) आदि में पृथिवी, मद्यादि के योग से जल, चिता की अग्नि में तेज, शौचालय आदि में वायु तत्त्व अशुद्ध हो जाते हैं परन्तु आकाश निर्लिप्त होने के कारण कहीं भी अपवित्र नहीं होता। इस प्रकार आकाश तत्त्व की प्रधानता तथा उससे सम्बन्धित अथवा उसका प्रतिनिधि स्वरूप होने के कारण कर्णेन्द्रिय पवित्र रहती हैं। इसलिये शौचादि के समय यज्ञोपवीत उस स्थान पर चढ़ा लेने से अशुद्ध नहीं होता। साथ ही ऊपर कान पर चढ़ा लेने से फिर नीचे लटकने तथा अपवित्र होने की आशंका भी नहीं रहती और शौचादि क्रिया करने में सुविधा हो जाती है। इसके अतिरिक्त ऐसा भी कहा जाता है कि कान के मूल में जो नाड़ियां हैं उनका सम्बन्ध मूत्राशय तथा गुदास्थान से रहता है। अत: मलमूत्र त्यागने के समय कान पर यज्ञोपवीत लपटा रहने से उन नाड़ियों पर दबाव पड़ने के कारण शौचादि क्रिया अच्छी तरह से हो जाती है और बहुमूत्र, मधुमेह, प्रमेह आदि मूत्र सम्बन्धी रोग नहीं होते। इस प्रकार वैज्ञानिक लाभ तथा रहस्य छिपा हुआ है।

दैनिक आचरण में विज्ञान

हमारे यहां का सम्पूर्ण सदाचार धर्मरूप से विज्ञानमूलक ही है, खाद्याखाद्य का विचार नक्षत्र आदि के प्रभाव के विचार से बड़ी ही सूक्ष्म दृष्टि से किया गया है। प्रत्येक वार ग्रह से सम्बन्ध रखता है अर्थात् रविवार सूर्य से, सोमवार चन्द्रमा से, मंगलवार मंगल से इत्यादि। जिस दिन जो वार होता है, उस दिन वह ग्रह अपना प्रभाव पूर्ण रीति से डालता है। तिथि में भी इसी प्रकार का विचार है, यथा—अष्टमी, अमावास्या और पूर्णिमा को चन्द्रमा का प्रभाव शीघ्र और सीधा पड़ता है, अतः उक्त तिथियों में जलरूप पदार्थ अर्थात् समुद्र का जल पूर्णिमा आदि के दिन उछलने लगता है। शरीर में भी कफ, रक्त आदि जो जलीय पदार्थ हैं, उनका भी उछलना उस तिथि में स्वाभाविक ही है। चन्द्रमा के सीधे आकर्षण से ही अमावास्या, पूर्णिमा को वात तथा कफ की वृद्धि होती है, अतः इन तिथियों को कम खाना तथा शुष्क वस्तुओं को खाना अथवा सूक्ष्म खाना कहा गया है, उपवास करना भी कहा गया है। कम से कम रात्रि के भोजन का अवश्य ही निषेध है। चन्द्रमा मन का देवता है, अतः इन तिथियों में उसका प्रभाव मन पर विशेष रूप से सीधा पड़ता है, जिससे मन चंचल हो उठता है। इसीलिए प्राचीन विज्ञान की रीति से कब खाना चाहिए तथा कौन सी वस्तु कब त्यागना चाहिए यह बतलाया गया है। यथा-एकादशी को भात, मंगलवार को उरद, रविवार को लौकी आदि का त्याग कहा है। रविवार आदि को तैल आदि का मर्दन भी इसी वैज्ञानिक भित्ति के आधार पर ही वर्जित किया गया है। यह सब धर्म के मार्मिक रहस्य हैं।

समय मास तथा नक्षत्र

यह निश्चित है कि हमारे यहां सनातन धर्म में हर एक बात कसौटी पर कसी हुई है। सृष्टि के विषय में यहां से अधिक प्रमाण और कहीं नहीं मिलता। आज भी हम बतला देते हैं कि सृष्टि के प्रारम्भ से आज तक कितना समय व्यतीत हुआ। सन्ध्यावन्दनादि क्रियाओं में संकल्प के समय नित्य यह पढ़ा जाता है कि—

'ॐ तत्सदद्य ब्रह्मणो द्वितीय परार्द्धे श्रीश्वेत वाराह कल्पे वैवस्वत मन्वन्तरे अष्टाविंशतितमे युगे कलियुगे कलिप्रथम चरणे जम्बूद्वीपे भरत खण्डे आर्यावर्ते अमुकनाम संवत्सरे अमुक मासे, अमुक पक्षे, अमुक तिथौ, अमुक वासरे...आदि' इससे यह स्पष्ट प्रतीत हो जाता है कि कितना समय सृष्टि के समय से आज तक व्यतीत हो गया और कौन सा समय यह है। अट्ठाइसवां कलियुग प्रथम चरण, अमुक संवत्सर मास, तिथि इत्यादि की गणना का स्पष्ट क्रम है। यहां तक कि नक्षत्र लग्न आदि तक का वर्णन किया गया है।

हमारे यहां मासों (महीनों) के नाम भी नक्षत्र के आधार पर वैज्ञानिकता को लिये हुये रक्खे गये हैं जो कि प्राकृतिक नियमों से सम्बन्धित हैं। जैसे नक्षत्रों के नाम क्रम से (१) अश्विनी (२) भरणी (३) कृत्तिका (४) रोहिणी (५) मृगशिरा (६) आर्द्रा (७) पुनर्वसु (८) पुष्य (९) अश्लेषा (१०) मघा (११) पूर्वाफाल्गुनी (१२) उत्तराफाल्गुनी (१३) हस्त (१४) चित्रा (१५) स्वांती (१६) विशाखा (१७) अनुराधा (१८) ज्येष्ठा (१९) मूल (२०) पूर्वाषाढ़ा (२१) उत्तराषाढ़ा (२२) श्रवण (२३) धनिष्ठा (२४) शतभिषा (२५) पूर्वाभाद्रपद

(२६) उत्तराभाद्रपद तथा (२७) रेवती आदि हैं और इनका वर्णन अथर्ववेद संहिता में भी आया है। (देखिये अथर्ववेद संहिता १६।७।२-३-४-५)

यह नक्षत्र चन्द्रमा के साथ भ्रमण किया करते हैं तथा प्रत्येक पूर्णिमा को एक नक्षत्र जो चन्द्रमा के साथ होता है उससे आगे आने वाली पूर्णिमा में उसके आगे आने वाला नक्षत्र छोड़कर और दूसरा आगे आने वाला नक्षत्र आ जाता है। इस प्रकार उसी नक्षत्र के आधार पर महीनों के नाम रक्खे गये हैं। पूर्णिमा वाले दिन उसी नक्षत्र से मास पूर्ण होता है इसीलिये उसे पूर्णिमा या पूर्णमासी कहा जाता है।

इसका क्रम आप यों समझ लें कि अश्विनी नक्षत्र में आश्विन मास, फिर भरणी छोड़कर कृत्तिका से कार्तिक मास, रोहिणी छोड़कर मृगशिरा में मार्गशीर्ष मास, आर्द्रा पुनर्वसु छोड़कर पुष्य में पौष, फिर अश्लेषा छोड़कर मघा में माघ, पूर्वाफाल्गुनी छोड़कर उत्तराफाल्गुनी में फाल्गुन, हस्त छोड़कर चित्रा में चैत्र, स्वांति छोड़कर विशाखा में वैशाख, अनुराधा छोड़कर ज्येष्ठा में ज्येष्ठ, मूल छोड़कर पूर्वाषाढ़ में आषाढ़, उत्तराषाढ़ छोड़कर श्रवण में श्रावण, धनिष्ठा शतभिख छोड़कर पूर्वाभाद्रपद में भादौं तथा उत्तराभाद्रपद रेवती छोड़कर अश्विनी में आश्विन मास आ जाता है। दिनों के अन्तर से गणना में घटा बढ़ी होने से कुछ अधिमास आदि का भी क्रम आ जाता है। लम्बा विषय हो जाने के कारण ज्योतिष के विस्तार में न जाकर हमें इतना ही सिद्ध करना है कि हमारे यहां के महीनों का नामकरण भी प्रकृति के नियमों के साथ साथ वैज्ञानिकता लिये हुये ऋषियों ने किया है।

इन बारह महीनों की बारह राशियां भी (१) मेष (२) वृष (३) मिथुन (४) कर्क (५) सिंह (६) कन्या (७) तुला (८) वृश्चिक (९) धनु (१०) मकर (११) कुम्भ (१२) मीन आदि हैं जिनका सम्बन्ध क्रम से वैशाख, ज्येष्ठ, आषाढ़, श्रावण, भादों, आश्विन, कार्तिक, मार्गशीर्ष, पौष, माघ और फाल्गुन से है।

इसी प्रकार कहा जा चुका है कि हमारे यहां दिनों के नाम भी ग्रहों के आधार पर रक्खे गये हैं। रविवार, सोमवार, मंगलवार, बुधवार, गुरुवार, शुक्रवार और शनिवार-ये नाम नवग्रह में से मुख्य सात ग्रहों के अनुसार रक्खे गये हैं। और इसीलिये यात्रा के समय इसका विचार किया जाता है कि दिक्शूल में यात्रा न की जाय। दिक्शूल का भाव यह है कि जो ग्रह जिस दिन से सम्बन्धित रहता है वह उसका अधिष्ठाता होता है, उस ग्रह की ओर पीठ करके जाने से उसका अपमान सा हो जाता है तथा उस ग्रह का प्रभाव भी अनुकूल नहीं पड़ता है। इसलिये उसका निषेध किया गया है। यह इसका रहस्य है। ज्योतिष शास्त्र में इसका बहुत बड़ा विचार किया गया है।

ज्योतिष शास्त्र वेद पुरुष के नेत्र रूप में कहा गया है। वेद को एक पुरुष के रूप में वर्णन करके वैदिक पुरुष के छः अंगों का वर्णन किया गया है। कहा गया है—

शब्द शास्त्रं मुखं ज्योतिषं चक्षुषी,
श्रोत्र मुक्तं निरुक्तं च कल्पं करौ।
यातु शिक्षास्य वेदस्य सा नासिका,
पाद पद्मद्वयं छन्दमाद्यं बुधैः॥

अर्थात् शब्द शास्त्र यानी व्याकरण वेद का मुख है, ज्योतिष आंखें हैं, निरुक्त कान हैं, कल्प हाथ हैं, शिक्षा नासिका है और छन्द शास्त्र वेद के पाद हैं। जिस प्रकार अंगहीन मनुष्य की शोभा नहीं होती वह अपूर्ण होता है उसी प्रकार अंगहीन वेद भी अपूर्ण ही है। वैदिक पुरुष की पूर्णता उसके अंगों के सहित ही होती है। इस दृष्टि से ज्योतिष शास्त्र तो अपना एक मुख्य स्थान रखता है जो कि—नेत्र रूप से है और चारो ओर देखता है।

क्षौर कर्म

ज्योतिष शास्त्र के अनुसार क्षौर कर्म में भी विचार किया गया है। ठीक तिथि तथा निश्चित दिनों में बाल बनवाने से उस समय के नक्षत्र एवं दिनाभिमानी देवता से शक्ति प्राप्त होती है, इसीलिए हमारे सूक्ष्मदर्शी ऋषियों ने क्षौर के लिए दिन आदि का भी विधान किया है।

यथा—

'भानुर्मासं क्षपयति तथा सप्त मार्तण्डसूनुः
भौमश्चाष्टौ वितरति शुभं बोधनः पंचमासान्।
सप्तैचेन्दुर्दश सुरगुरुः शुक्र एकादशेति
प्राहुर्गर्गप्रभृति मुनयः क्षौरकार्येषु नूनम्॥

(वाराही०)

अर्थात् गर्गादि मुनियों ने कहा है कि रविवार को क्षौर कराने से एक मास तथा मंगल और शनिवार को सात मास आयु क्षीण होती है। बुधवार को क्षौर कराने से ५, सोमवार

को ७, गुरुवार को १० तथा शुक्रवार को ११ मास आयु बढ़ती है। गृहस्थ को सोम तथा गुरुवार का निषेध है। इन कर्मों में नक्षत्र का संयोग होने के कारण उसी के तारतम्य से लाभ तथा हानि होती है।

तैलाभ्यंग

इसी प्रकार तेल लगाने के विषय में कहा गया है—

"तैलाभ्यंगे रवौ तापः सोमे शोभा कुजे मृतिः।
बुधे धनं गुरो हानिः शुक्रे दुःख शनौ सुखम्॥
रवौ पुष्पं गुरौ दूर्वा भौमवारे च मृत्तिका।
गोमयं शुक्रवारे च तैलाभ्यंगो न दोषभाक्॥
नित्यमभ्यंगके चैव वासिते नैव दूषणम्॥"
(ज्योतिः सागर)

अर्थात् रविवार को तेल लगाने से ताप, मंगलवार को मृत्यु के समान कष्ट, गुरुवार को हानि, तथा शुक्रवार को दुःख होता है। सोमवार को शोभा, बुधवार को धन और शनिवार को सुख प्राप्त होता है। यदि निषिद्ध वारों में तेल लगाना हो, तो रविवार को पुष्प, गुरुवार को दूर्वा, मंगलवार को मृत्तिका और शुक्रवार को गोबर तेल में छोड़कर लगाने से उक्त दोष नहीं लगता। सुगन्धित तैल तथा प्रतिदिन नियमित लगाने वालों को भी यह दोष नहीं लगता है। शरीर के नक्षत्र एवं नक्षत्राभिमानी देवता का वैज्ञानिक संबंध होने के कारण यह सब प्रभाव तथा फल होता है, जो सूक्ष्म दृष्टि से देखा गया है। यह धार्मिक रहस्य विज्ञान से सिद्ध है। इसी प्रकार,

नक्षत्र—सम्बन्ध के कारण चन्द्रग्रहण आदि में भी उपवास आदि का विशेष विधान किया गया है, जो रहस्यमय है।

ग्रह नक्षत्रों का विज्ञान

जो ब्रह्माण्ड में है वह पिण्ड (शरीर) में भी है। इस दृष्टि से ब्रह्माण्ड के ग्रह नक्षत्रों का प्रभाव पिण्ड पर भी पड़ता है। दायें स्वर से सम्बन्धित नाड़ी चन्द्र तत्त्व से प्रभावित कही गई है ऐसा योगियों को अनुभव भी है। ग्रह नक्षत्रों के शुभाशुभ प्रभाव के लिये हवन, मन्त्र, उपासना तथा नवरत्न अष्ट धातु धारण आदि अन्य विधियों का वर्णन हमारे धर्मग्रन्थों में किया गया है। वेदों में भी उनका वर्णन आया है। ब्रह्माण्डस्थित ग्रहों का पिण्ड से सम्बन्ध इस प्रकार है। पिण्ड में सूर्य का प्रतिनिधि आत्मा है, चन्द्रमा का मन, मंगल का रक्त, बुध का वाणी बृहस्पति का ज्ञान, शुक्र का वीर्य तथा शनि का सुख दुःखानुभूति से सम्बन्ध है। ब्रह्माण्ड स्थिति ग्रहों का प्रभाव पिण्ड पर पड़ता है। ग्रहों के अनुकूल रहने पर अच्छा तथा प्रतिकूल रहने पर विपरीत प्रभाव स्वास्थ्य तथा शरीर पर पड़ता है। इसलिये सनातन धर्म में वैज्ञानिक खोज करके ऋषियों ने ऐसी विधियां बतलाई हैं जिसके अनुसार हम उनके दुष्ट प्रभाव से बच सकें और अच्छे प्रभाव को ग्रहण कर सकें।

रत्नों में लाल माणिक्य में सूर्य तत्त्व, सफेद पीले व श्याम कान्ति वाले मोती में चन्द्र तत्त्व पीलापन लिये हुये मूंगे में मंगल तत्त्व हरे पन्ना में बुध तत्त्व, सोने की सी आभा वाले पुखराज में बृहस्पति तत्त्व सफेद हीरे में शुक्र तत्त्व तथा नीले नीलम में शनि तत्त्व विद्यमान है। इसलिये जिस ग्रह से

सम्बन्धित शक्ति की आवश्यकता हो उस ग्रह के अनुकूल रत्न धारण करने से उससे सम्बन्धित अशान्ति, अस्वस्थता तथा रोग दूर करके शक्ति तथा स्वास्थ्य प्राप्त किया जा सकता है, ऐसा वर्णन है। इसी प्रकार धातुओं में सोना, चांदी, तांबा, पीतल कांसा, पारा और लोहे में क्रमश: सूर्य, चन्द्र, मंगल, बुध, बृहस्पति शुक्र तथा शनि के तत्त्व रहते हैं। जिनका शुभाशुभ प्रभाव पड़ता है। सोने में सूर्य तत्त्व रहने के कारण वह तेज ओज तथा दीर्घायु प्रदान करता है। (अथर्ववेद १६।२६।१) और इसीलिये सूर्य के अन्य नामों के साथ साथ उसका एक नाम हिरण्य भी है। चांदी में चन्द्रतत्त्व है इसलिये उसका नाम चन्द्रकान्ति भी है। तांबे में मंगल तत्त्व है, पारे में शुक्र तत्त्व है इसलिये उसका नाम रसेन्द्र भी है। इसी प्रकार पीतल, कांसे और लोहे में बुध, बृहस्पति और शनि तत्त्व रहता है। शनिवार को लोहा न खरीदने की प्रथा आज भी हमारे यहां सनातन धर्मियों में प्रचलित है।

इस प्रकार वनस्पतियों में भी अपामार्ग, आक, ढाक, खैर गूलर, पीपल तथा कुश में क्रमश: सूर्य, चन्द्र, मंगल, बुध, बृहस्पति, शुक्र तथा शनि का गुण तथा प्रभाव रहता है। शरीर में जिस तत्त्व का अभाव हो उसकी पूर्ति तथा अनुकूलता के लिये उसी औषधि का प्रयोग किया जाता है। ग्रह पूजन के मन्त्रों के माध्यम से प्रार्थना करके हम उनसे सम्बन्ध स्थापित करते हैं। इस प्रकार रत्न, धातु, औषधि तथा वेदमन्त्रों के आधार पर ब्रह्माण्ड के ग्रहों की अनुकूलता हम पिण्ड में ग्रहण कर सकें इसलिये ऋषियों ने इस पर सूक्ष्म विचार करके हमारे कल्याण के लिये उसे धर्म का अंग बना दिया है। विस्तारभय

से अधिक न लिख कर इस पर थोड़ा सा प्रकाश डालने की चेष्टा की गई है।

ग्रहण--प्रभाव

कहा जा चुका है कि हमारे यहां की प्रत्येक वस्तु आध्यात्मिक, आधिदैविक तथा आधिभौतिक, इन तीन दृष्टियों से देखी जाती है। आधिभौतिक दृष्टि से जब पृथिवी और सूर्य के बीच में चन्द्रमण्डल आता है, तब सूर्यग्रहण और जब पृथिवी की छाया से चन्द्रबिम्ब ढक जाता है, तब चन्द्रग्रहण होता है। आधिदैविक दृष्टि से राहु चन्द्रमा और सूर्य को ढक लेता है। आध्यात्मिक दृष्टि से आसुरी शक्ति का दैवी शक्ति पर आक्रमण होता है। वैज्ञानिक दृष्टि यह है कि चन्द्रमा मन का स्वामी है और सूर्य से बुद्धि का बोध होता है, जैसा कि वेद में 'चन्द्रमा मनसो जात:' से मन तथा चन्द्रमा का और गायत्री द्वारा सूर्य का बुद्धि से सम्बन्ध दिखलाया गया है, अत: चन्द्र तथा सूर्यग्रहण के समय मन और बुद्धि पर भी उस का प्रभाव पड़ना स्वाभाविक है। यदि उस समय मन और बुद्धि को नियन्त्रित अथवा संयत न रखा जाय, तो अनेकों व्याधियां उत्पन्न हो सकती हैं। ग्रह तथा उपग्रह एवं नक्षत्र आदि में परस्पर आकर्षण विकर्षण का सम्बन्ध है। यह तो स्पष्ट ही है कि पूर्णिमा को समुद्र में ज्वार-भाटा आता है। इस से उसका प्रभाव स्थूल शरीर पर पड़ेगा। ग्रहण के समय मन और बुद्धि चञ्चल हो जाते हैं। चन्द्रमा औषधियों को रस तथा अमृत प्रदान करता है, और सूर्य प्राणशक्ति प्रदान करता है, अत: ग्रहण के कारण उन सब पदार्थों का रस, अमृत एवं प्राणशक्ति नष्ट तथा विकृत हो जाने के कारण भोजन करना निषेध किया गया है। जल, फल

आदि में कुशा इत्यादि रख देने से उस पर उतना प्रभाव नहीं पड़ता तथा वस्तु पवित्र रहती है। क्योंकि कुशा नानकण्डक्टर है उससे दोष संक्रमित नहीं होते। उस समय जप-भजन का विधान इसलिए किया गया है कि मन आदि का सम्बन्ध चन्द्रमा से टूट जाने के कारण उन्हें फिर स्वतन्त्र छोड़ देने से विशृंखलित हो जायंगे और एक ओर लगा देने से वे फिर शीघ्र एकाग्र भी हो जायंगे, अतः परमात्मा में ही मन लगा रहे इस विचार से जप का विधान है। उस समय आध्यात्मिक दृष्टि से दान देने का भी महत्त्व है। उस समय दान का फल विशेष होता है, हवन आदि कर्म करने से दैवी शक्ति को बल प्राप्त होता है, अन्तःकरण भगवद्ध्यान एवं पुण्य कर्मों की ओर लगा रहता है। पृथ्वी तथा अन्य ग्रहमण्डल का शोधन भी होता है। प्रत्येक प्राणी किसी न किसी राशि में अवश्य रहता है, अतः जिस राशि पर ग्रहण पड़ता है, उस राशि से सम्बद्ध मनुष्यों पर भी उनका शुभाशुभ प्रभाव अवश्य पड़ता है। इसीलिए ग्रहण देखने न देखने का विधि निषेध किया गया है। इस प्रकार आधिदैविक एवं आधिभौतिक दृष्टि से हमारे यहां के धर्म की नींव बनी है, जिसके सिद्धान्त अत्यन्त सूक्ष्म एवं गम्भीर हैं। लोग उसे न समझने के कारण ही उन पर श्रद्धा-विश्वास न करके अपनी ही हानि करते हैं।

दैनिक आचार में वैज्ञानिक व्यवहार

प्रणाम

धार्मिक आचारों पर जितना प्रकाश डाला जाय थोड़ा है, उनमें अपार रहस्य भरा हुआ है। मनुस्मृति (२। १२०) में अभिवादन के विषय में लिखा है—

"उरसा शिरसा चैव मनसा वचसा दृशा।
पद्भ्यां कराभ्यां जानुभ्यां प्रणामोऽष्टांग उच्यते ॥"

यह साष्टांग प्रणाम तथा—

"पद्भ्या कराभ्यां जानुभ्यां मूध्र्ना च मनसा सह।
पञ्चाँगैः कथितः स्त्रीणां प्रणामः पापहिंसकः ॥"

यह पञ्चांग प्रणाम विधि पुरुषों तथा स्त्रियों द्वारा कर्तव्य थी, वहां पर अब केवल 'नमस्ते' कह देना या 'राम-राम' कह देना अथवा साथ में हाथ जोड़ना ही अभिवादन का रूप रह गया है, इतना ही नहीं, अन्य देश वालों की हाथ मिलाने की नकल चल पड़ी है। किस क्रिया से कितना लाभ होता है इस पर ध्यान देने से ही उसका महत्त्व ज्ञात होता है। केवल मुख से अभिवादन कह देने से ही मन पूर्ण रूप से नहीं मिलता। हां, एक व्यवहार मात्र का निर्वाह हो जाता है। 'राम-राम' आदि कह देने से भगवन्नाम का तो उच्चारण ही होता है, हाथ जोड़कर सिर नवाने से मनोभावना का एक दूसरे से सम्पर्क हो जाता है और यह प्रतीत होता है कि हम अमुक को नमन करके अभिवादन कर रहे हैं। परन्तु हाथ जोड़कर सिर नवाना यह छोटे को ही बड़े के लिए प्रशस्त है। कुछ लोग तो नमस्कार कहने और करने में भी संकोच करते हैं, अभिवादन के बदले में अपना सिर थोड़ा सा हिला देते हैं, वे अपना गौरव इसी में ही समझते हैं !

हाथ मिलाना

हाथ मिलाने की क्रिया से एक की शक्ति दूसरे में सङ्क्रमित होती है। हाथों की अंगुलियों से एक प्रकार की विद्युत् शक्ति

प्रत्येक मनुष्य के सत्व, रज, तम आदि गुणों के अनुसार सदैव निकला करती है, जिसका वैज्ञानिकों ने अनुभव किया है और उसे 'अरा' कहा है। वह शक्ति जिसमें प्रवल होती है, वह मनुष्य दूसरे मनुष्य की शक्ति को जिसमें कम शक्ति होती है, हाथ मिलाने की क्रिया द्वारा अपने में आकर्षित कर लेती है अर्थात् धीरे-धीरे उसकी शक्ति पर अपना अधिकार कर लेता है। इसीलिए हाथ मिलाने वाले लोगों ने यह नियम बनाया है कि जो बड़ा होता है, वही अपना हाथ पहले बढ़ाता है, जिसका रहस्य एवं परिणाम यह है कि बड़ी शक्तिवाला छोटी शक्ति को अपनी ओर खींच कर छोटी शक्ति वाले का ह्रास ही कर रहा है और उस पर अपना ही प्रभाव डाल रहा है। यह सिद्धान्त बिल्कुल उल्टा है। हमारे यहां छोटे लोग बड़े को प्रणाम करके उनसे तत्क्षण आशीर्वाद तथा शक्ति प्राप्त करते थे, जिससे उनकी आयु, विद्या, यश और बल की वृद्धि होती थी। मनुस्मृति (२।१२१) में इसीलिए कहा गया है—

अभिवादनशीलस्य नित्यं वृद्धोपसेविनः।
चत्वारि तस्य वर्द्धन्ते आयुर्विद्या यशोबलम् ॥

परन्तु आज यह दशा हुई है कि आयु, विद्या, यश, बल प्राप्त करने के बदले पाश्चात्य रीति से हाथ मिलाने की क्रिया को स्वीकार करके हम अपना गौरव स्वयं खो बैठे। आजकल तो छोटे बड़े सब केवल एक प्रकार की शैली अर्थात् हाथ जोड़कर अभिवादन पूर्वक सिर नवाकर 'नमस्ते' 'नमस्कार' आदि की क्रिया करते हैं, उसमें छोटा तो सिर नवा सकता है, किन्तु बड़े का भी हाथ जोड़कर सिर नवाना प्रशस्त नहीं प्रतीत होता।

स्त्री-पुरुषों का एक आसन पर निषेध

'मनुस्मृति' (२।२५) में कहा गया है—

मात्रा स्वस्रा दुहित्रा वा न विविक्तासनो भवेत्।
बलवानिन्द्रियग्रामो विद्वांसमपि कर्षति॥

अर्थात् माता, बहन तथा लड़की के साथ भी एकान्त में स्थित न होना चाहिए क्योंकि बलवान् इन्द्रिय-समूह विद्वान् को भी आकर्षित कर लेता है। गीता में कहा गया है—

यततो ह्यपि कौन्तेय पुरुषस्य विपश्चितः।
इन्द्रयाणि प्रमाथीनि हरन्ति प्रसभं मनः॥
(२।६०)

अर्थात् हे अर्जुन! यत्न करते हुये बुद्धिमान् पुरुष के भी मन को यह प्रमथनस्वभाववाली इन्द्रियां हरण कर लेती हैं। इसीलिए स्त्रियों के साथ अधिक सम्पर्क नहीं रखना चाहिए। यह तो वैज्ञानिक अनुभव सिद्ध ही है कि एक आसन पर सम्पर्क होने से विद्युतशक्ति एक दूसरे में बहुत शीघ्र ही प्रवेश करती है, अतः मनुष्य की विषयासक्त भावना अतिशीघ्र जाग्रत हो जाती है, जिससे फिर अहित ही होता है। इस प्रकार अनेकों सदाचार के विचारों के उपदेश हमारे शास्त्रों में भरे पड़े हैं, जिनको वहीं देखना चाहिए, यह तो उदाहरण मात्र हैं।

उद्धरेदात्मनात्मानम्

वास्तव में अपना कल्याण हम अपने आप ही कर सकते हैं। हमें स्वयं आचार का पालन करना चाहिए—

उद्धरेदात्मनात्मानं नात्मानमवसादयेत्।
आत्मैव ह्यात्मनो बंधुरात्मैव रिपुरात्मनः ।।
(गीता ६।५)

अर्थात् मनुष्य अपना उद्धार अपने आप करे, अपनी आत्मा को गिराये नहीं। आत्मा ही अपना मित्र है और आत्मा ही (अनियमित चलने से) अपना शत्रु है। सदाचारी मनुष्य स्वयं आचरण करके ही अपना कल्याण कर सकता है, अन्यथा यदि कोई चारों वेदों को उनके अंग के सहित समस्त अध्ययन ही क्यों न कर ले, और आचारहीन हो, तो उसको भी वेद पवित्र नहीं कर सकते, उसका कल्याण नहीं हो सकता—

आचारहीनं न पुनन्ति वेदाः
यद्यप्यधीताः सह षड्भिरंगैः ।।
(वशिष्ठ स्मृति ६।३)

वेद शास्त्रों से तो केवल ज्ञान होगा, फल आचरण करने से ही प्राप्त होगा। मनुष्य के कर्म ही मनुष्य का साथ देते हैं, कर्म के संस्कार ही जन्मजन्मातर में शुभाशुभ फल देते हैं और इस जन्म के अभ्यास से अगले जन्म में शुभाशुभ कर्मों की ओर आकर्षित होना पड़ता है—

पूर्वाभ्यासेन तेनैव ह्रियते ह्यवशोऽपि सः। (गीता ६।४४)

अतः अपना कर्म ही अपना साथी है, अन्य सांसारिक वस्तुओं से वियोग होना तो अवश्यम्भावी है। धार्मिक एवं अधार्मिक संस्कार ही मरने के बाद सूक्ष्म शरीर के साथ रहते हैं—

एक एव सुहृद्धर्मो निधनेप्यनुयाति यः ।
शरीरेण समं नाशं सर्व मन्यत्तु गच्छति ।।
(मनु० ८।१७)

धर्म स्वयं रक्षा करता है

अपने शुद्ध आचार-विचारों द्वारा हमें स्वयं शक्ति प्राप्त होगी और वह सदाचार रूप धर्म हमारी रक्षा स्वयं करेगा, परन्तु हमारे दुष्कर्म, अनाचार, दुराचार दुर्विचार ही हमें अवनति की ओर ले जाते हैं। कहा गया है--

धर्म एव हतो हन्ति धर्मो रक्षति रक्षितः ।
तस्माद्धर्मो न हन्तव्यो मा नो धर्मो हतोऽवधीत् ।।
(मनु० १८।१५)

अर्थात् नष्ट हुआ धर्म ही मारता है और रक्षा किया हुआ धर्म ही रक्षा करता है। इसलिए धर्म का नाश नहीं करना चाहिए।

हमारे यहां मल मूत्र त्याग, शौच, स्नान, बैठना, अभिवादन करना, कुल्ला करना, (यथा-बायें ओर कुल्ला फेंकना चाहिए, क्योंकि सामने देवताओं का वास और दाहिने पितरों का वास रहता है) भोजन विधि अर्थात् किस ओर कौन वस्तु रखकर भोजन करना चाहिए इत्यादि अनेकों सदाचार, जिनको हम छोटी छोटी बातें समझते हैं और उनका महत्त्व नहीं समझते उन पर गम्भीर, वैज्ञानिक विचार करके महर्षियों ने सदाचार के नियम बनाकर उन्हें धार्मिक रूप दिया है। यदि हम स्वयं इनका पालन करें तो स्वयं ऐहिक आमुष्मिक लाभ उठा सकेंगे और दूसरों को भी शिक्षा दे सकेंगे, और यदि—

सब नर कल्पित करहिं अचारा।
बरनि न जाय अनीति अपारा ।।

गोस्वामी जी की इस उक्ति के अनुसार चलेंगे, तो उसका फल तो आज प्रत्यक्ष ही है कि हम किस दशा को प्राप्त हो गये। हम अपनी शिक्षा संस्कृति, सदाचार संगठन, सद्भावना आदि का परित्याग करके स्वतन्त्रता स्वीकार करने के कारण ही मनमाना आचरण करके आज इस गति को पहुंच गये हैं।

पंच महायज्ञ

इसके उपरोन्त अब पंच महायज्ञों पर कुछ विचार किया जा रहा है। 'मनुस्मृति' (३।६८) में लिखा है--

"पंच सूना गृहस्थस्य चुल्ली पेषण्युपस्करः।
कण्डनी चोदकुम्भश्च बध्यते यास्तु वाहयन् ।।"

अर्थात् गृहस्थी में चूल्हा, चक्की, झाड़ू, ओखली और घड़ा, यह पांच स्थान हिंसा के हैं। (पराशर०) इनको काम में लाने वाला गृहस्थ पाप से बंधता है। इसलिए उन पापों की निवृत्ति के लिए नित्य क्रमशः निम्नलिखित पांच यज्ञ करने का विधान किया गया है— (पारा० २।१४) (१) ब्रह्मयज्ञ, (२) पितृयज्ञ, (३) देवयज्ञ, (४) भूतयज्ञ, और (५) नृयज्ञ। पढ़ना-पढ़ाना 'ब्रह्मयज्ञ', तर्पणादि 'पितृयज्ञ', हवन 'दैवयज्ञ', बलि 'भूतयज्ञ' और अतिथि-पूजन 'मनुष्ययज्ञ' है-

"अध्यापनं ब्रह्मयज्ञः पितृयज्ञस्तु तर्पणम्।
होमो दैवो बलिर्भौतो नृयज्ञोऽतिथिपूजनम् ।।"
(मनु० ३।७०)।

'ब्रह्मयज्ञ' में वेदादि सच्छास्त्रों का स्वाध्याय होने से विद्या तथा ज्ञान प्राप्त होता है, परमात्मा से आध्यात्मिक संबंध दृढ़ होता है और ऋषिऋण से छुटकारा मिल जाता है, कर्त्तव्याकर्त्तव्य सम्बन्धी निर्णय के साथ साथ इहलोक और परलोक के लिए कल्याणमय निष्कण्टक पथ का अनुसन्धान हो जाता है और सदाचार की वृद्धि होती है। ज्ञानवृद्धि के कारण तेज तथा ओज की भी वृद्धि होती है।

'पितृयज्ञ में अर्यमादि नित्यपितर तथा परलोकगामी पितरों का तर्पण करना होता है, जिससे उनके आत्मा की तृप्ति होती है। तर्पण में कहा जाता है कि—

'आब्रह्मभुवनाल्लोका देवर्षिपितृमानवः।
तृप्यन्तु पितरः सर्वे मातृमाता महादयः॥
नरकेषु समस्तेषु यातनासु च ये स्थिताः।
तेषामाप्यायनायैतद्दीयते सलिलं मया॥'

अर्थात् ब्रह्मलोक से लेकर देवता, ऋषि, पितर, मनुष्य तथा पिता, माता और मातामहादि पितरों की तृप्ति के लिये तथा समस्त नरकों में जितने भी यातनाभोगी जीव हैं, उनके उद्धार के लिए मैं यह जल प्रदान करता हूं। इससे पितृजगत् से सम्बन्ध होता है।

'देवयज्ञ' में हवन का विधान किया है। हवन से केवल वायु ही शुद्ध नहीं होता, दैवी जगत् से मन्त्रों द्वारा सम्बन्ध भी होता है और वे देवगण उससे तृप्त होकर बिना मांगे ही जीवों को इष्ट फल प्रदान करते हैं। इस सम्बन्ध में 'गीता' (३। १०-१२) में बतलाया गया है—

'देवान्भावयतानेन ते देवा भावयन्तु वः ।
परस्परं भावयन्तः श्रेयः परमवाप्स्यथ ॥'

अर्थात् यज्ञ के द्वारा तुम लोग देवताओं की उन्नति करो और वे तुम्हारी उन्नति करेंगे, इस प्रकार परस्पर उन्नति करते हुए परम कल्याण को प्राप्त होंगे। इसके अतिरिक्त 'मनुस्मृति' (३।७६) में बतलाया गया है कि अग्नि में डाली हुई आहुति सूर्य को प्राप्त होती है, सूर्य से वृष्टि होती है और वृष्टि से अन्न एवं अन्न से प्रजा होती है—

'अग्नौ प्रास्ताहुतिः सम्यगादित्यमुपतिष्ठते ।
आदित्याज्जायते वृष्टिर्वृष्टेरन्नं ततः प्रजाः ॥'

और भी

'अन्नाद् भवन्ति भूतानि पर्जन्यादन्नसम्भवः ।
यज्ञाद् भवति पर्जन्यो यज्ञः कर्मसमुद्भवः ॥'

(गीता ३।१४)

अर्थात् अन्न से प्राणी उत्पन्न होते हैं, अन्न वर्षा से उत्पन्न होता है, वर्षा यज्ञ से होती है और यज्ञ कर्म से होता है। इस प्रकार देवयज्ञरूपी नित्य कर्म में सम्पूर्ण प्राणियों का व्यापक हित निहित है।

'भूतयज्ञ' में 'बलि-वैश्वदेव' का विधान किया गया है, जिससे कीट, पक्षी, पशु आदि की तृप्ति एवं सेवा होती है। 'नृयज्ञ' अर्थात् मनुष्ययज्ञ अतिथि-सेवा-रूप है। अतिथि सेवा करने का बड़ा ही महत्त्व कहा गया है। जिसके आने की कोई तिथि निश्चित न हो, वह 'अतिथि' कहा जाता है। यदि कोई

अतिथि किसी के घर से असन्तुष्ट होकर लौट जाता है, तो उसका सब संचित पुण्य नष्ट हो जाता है—

'आशाप्रतीक्षे संगतं सूनृतां
चेष्टापूर्त्तौ पुत्रपशूंश्च सर्वान् ।
एतद् वृङ्क्ते पुरुषस्याल्पमेधसो
यस्यानश्नन् वसति ब्राह्मणो गृहे ।।'

(कठो० १।१।८)

अर्थात् जिसके घर में ब्राह्मण अतिथि बिना भोजन किये रहता है, उस पुरुष की आशा, प्रतीक्षा, संगत एवं प्रिय वाणी से प्राप्त होने वाले समस्त इष्टापूर्त्त फल तथा पुत्र, पशु आदि नष्ट हो जाते हैं। 'अथर्ववेद' के अतिथिसूक्त में (६।५८) कहा गया है कि—

'एते वै प्रियाश्चाप्रियाश्च स्वर्गलोकं गमयन्ति यदतिथयः।
सर्वो वा एष जग्धपाप्मा यस्यान्नमश्नन्ति ।।'

अर्थात् अतिथिप्रिय होना चाहिए, भोजन कराने पर वह यजमान को स्वर्ग पहुंचा देता है और उसका पाप नष्ट कर देता है।

शयन

शयन के विषय में दिन में सोने का निषेध और दक्षिण की ओर पैर करके सोने का निषेध वेदों में किया गया गया है।

'मा दिवा स्वाप्सीः'

अर्थात् दिन में मत सोओ–यह आज्ञा दी गयी है इन सब का रहस्य वैज्ञानिक है। दिन में सोने से आलस्य कफ और

जड़ता का प्रादुर्भाव होता है, क्योंकि ब्रह्माण्ड में सूर्य प्राण स्वरूप होने के कारण शक्ति का निधान है, अत: उसका सम्पर्क प्रत्यक्ष न रहने से उक्त दोष उत्पन्न हो जाते हैं। हमें चाहिए कि महाप्राण-रूप सूर्य से अपने क्षुद्र प्राण का सम्पर्क अधिक से अधिक समय तक रखें। इसी प्रकार दक्षिण दिशा की ओर पैर करके सोने में यह बात है कि समस्त ब्रह्माण्ड की गति ध्रुव की ओर है और ध्रुव सदा उत्तर दिशा की ओर रहने के कारण पृथ्वी में जो विद्युत्धारा प्रवाहित हो रही है, वह भी उत्तर की ओर प्रवाहित होती है। इसी कारण दिग्दर्शक यन्त्र का कांटा भी सदैव उत्तर की ही ओर रहता है। अत: यदि हम दक्षिण की ओर पैर करेंगे, तो पार्थिव विद्युत्धारा पैरों की ओर से शिर की ओर प्रवाहित होगी और फिर उससे शिर का भारीपन, शिरो व्यथा आदि अनेक रोग हो जायंगे और अस्वाभाविकता के कारण प्रकृति अस्वस्थ हो जायगी। दक्षिण की ओर शिर करने से नियमानुसार पार्थिव विद्युत् पैरों की ओर प्रवाहित होकर निकल भी जायगी, क्योंकि पैर तो विद्युत् के निकलने का स्थान ही है। यही बात पूर्व की ओर पैर करके सोने में है, जो पहले निवेदन की जा चुकी है। 'विष्णु पुराण' में कहा है—

'प्राच्यां दिशि शिरः शस्तं याम्यायामथवा नृप।
सदैव स्वपतः पुंसोविपरीतं तु रोगदम् ॥"

अर्थात् सोते हुए मनुष्य का शिर पूर्व या दक्षिण में होना अच्छा है, इससे बिपरीत रोगकारक है। 'मारकण्डेय पुराण' में भी कहा है कि—

"प्राक्शिरे शयने विद्याद्धनमायुश्च दक्षिणे।
पश्चिमे प्रबला चिन्ता हानिमृत्यू तथोत्तरे॥"

अर्थात् पूर्व दिशा की ओर शिर करके सोने में धन, दक्षिण में आयु, पश्चिम में प्रबल चिन्ता और उत्तर में हानि एवं मृत्यु होती है। मरणप्राय अथवा मृतप्राणी को दक्षिण की ओर पैर करके इसीलिए लेटा देते हैं कि उसकी अवशिष्ट प्राणशक्ति अथवा अन्य ऐसी शक्ति जो दुःखदायी हो एवं सूक्ष्म शरीर शीघ्र ही निकल जाय, उसे कठिनता व दुःख न हो एवं ऐसा भी न हो कि विद्युत्शक्ति अवशिष्ट रहते हुए उसका अग्निसंस्कार हो जाय।

यह सब सनातन धर्म की वैज्ञानिकता है। अगले प्रकरण में अब कुछ वर्णाश्रम धर्म के विषय में प्रकाश डालने की चेष्टा की जा रही है।

वर्णाश्रम-धर्म

सनातन धर्म के अनुसार भारतीय संस्कृति के वर्ण और आश्रम यह दो प्रमुख स्तम्भ हैं। वर्ण चार हैं-- ब्राह्मण, क्षत्रिय वैश्य, और शूद्र। तथा ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और सन्यास यह चार आश्रम हैं। इस वर्णाश्रम धर्म की वैज्ञानिक भित्ति पर ही हिन्दू संस्कृति के भव्य-भवन का निर्माण हुआ है। यह वर्णाश्रम धर्म प्राकृतिक नियमों से अत्यन्त निकट, वैज्ञानिक तथा कल्याणकारी है क्योंकि परमात्मा के द्वारा इस सृष्टि का क्रम भी बड़ा ही विचित्र तथा रहस्यमय है। इस प्रकरण में संक्षेप से वर्ण-धर्म पर कुछ प्रकाश डालने की चेष्टा की जा रही है। यद्यपि सम्पूर्ण संसार में एक ही परमात्मा व्याप्त है और सबमें

एक ही आत्मसत्ता है, तथापि उस परमात्मा ने जब अपने को "एकोऽहं बहु स्याम्" के रूप में देखने इच्छा की, तभी सृष्टि का सृजन हुआ और वह सृष्टि कारण, सूक्ष्म तथा स्थूल एवं सत्व, रज और तम इन तीन रूपों में क्रमशः व्यक्त हुई। अतः सृष्टि में विभिन्नता हो गई। त्रिगुणमयी तथा चातुर्वर्ण्यमयी सृष्टि का क्रम अनादि काल से भगवान् द्वारा हुआ है—

'चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः" (गीता ४।१३)

अर्थात् गुण और कर्म के विभाग से (ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र आदि) चारों वर्ण मेरे द्वारा रचे गये हैं। यहां भगवान् कहते हैं 'मया सृष्टिम्, न तु अन्येन केनचित्' अर्थात् मैंने बनाया है दूसरे किसी ने नहीं। अतः उन्होंने ही चातुर्वर्ण्य-मयी सृष्टि रची तथा उन्होंने ही उनके गुण एवं संस्कारों के अनुसार कर्मों का भी विधान किया।

'ब्राह्मणक्षत्रियविशां शूद्राणां च परंतप।
कर्माणि प्रविभक्तानि स्वभावप्रभवैर्गुणैः।'
(गी० १८।४१)

अर्थात् ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्रों के भी कर्म स्वभाव से उत्पन्न हुये गुणों से विभक्त किये गये हैं। अतः इस प्रकार से सृष्टि का क्रम ही विभिन्नता का कारण हुआ।

यद्यपि सब प्राणियों का बाह्य स्थूल शरीर प्रायः एक ही प्रकार का है, तथापि आन्तर सूक्ष्म शरीर में विभिन्नता होने के कारण बाहर के व्यवहार में भी भेद अवश्य है। परन्तु प्रत्येक प्राणी को आत्मवत् मानकर उस से प्रेम अवश्य करना चाहिए। घृणा अथवा ऊंच-नीच का भेद भाव नहीं होना

चाहिए। विद्वान् तथा ज्ञानी लोग भी विद्याविनयसम्पन्न ब्राह्मण, गौ, हाथी, कुत्ता तथा चाण्डाल में समदर्शिता का भाव रखते हैं, समवर्तिता का भाव नहीं। हम व्यवहार में प्रत्यक्ष अनुभव करते हैं कि यद्यपि स्त्री शरीर सबका एक ही पाञ्चभौतिक तत्त्वों से निर्मित है, तथापि भावना तथा विचार के बल पर माता, भगिनी, पुत्री तथा पत्नी के साथ एक प्रकार का व्यवहार नहीं किया जाता। हां प्रेम अवश्य ही सब पर रहता है। इसलिये विचारशील मनुष्य को—जिसमें कि पांचों कोषों का विकास हुआ है तथा बुद्धि की विशेषता है—अपने कल्याण के लिये जो व्यवहार शास्त्र नियुक्त हैं, वही करना प्रशस्त है। अन्यथा आहार, निद्रा, भय और मैथुन आदि तो पशुओं और मनुष्यों में समान ही है मनुष्य में बुद्धविशेष होने के कारण उसमें धर्म तथा सदाचार की ही विशेषता होती है, अन्यथा मनुष्य और पशु में अन्तर ही क्या है?

चार प्रकार की सृष्टि

परमात्मा की सृष्टि में उद्भिज, स्वेदज, अण्डज तथा जरायुज चार प्रकार की सृष्टि है, जिसमें मनुष्य ही सर्वश्रेष्ठ माना गया है। कारण यह है उद्भिज-वृक्ष आदि में केवल अन्नमय कोष का ही विकास होता है अर्थात् वे केवल बढ़ते ही हैं। स्वदेज में अन्नमय तथा प्राणमय इन दो कोषों का विकास होता है अर्थात् वे बढ़ते भी हैं और उनमें प्राणक्रिया भी देखने में आती है, जिससे कि एक से दूसरे में वे सङ्क्रमित हो जाते हैं। अण्डज में अन्नमय, प्राणमय के साथ मनोमय कोष का भी विकास होता है, जैसा कि हम देखते हैं कि साधारण पक्षी भी अपने बच्चों से प्रेम करके मनोबल से उनका पोषण आदि करते

हैं। जरायुज अर्थात् पशु में अन्नमय, प्राणमय, मनोमय के साथ साथ विज्ञानमय कोष का भी विकास होता है, अतः उनमें मानसिक चेष्टा होने के साथ-साथ वे कुछ विचारशील भी होते हैं जैसा कि कुत्ता आदि अनेक पशुओं में स्वामिभक्ति आदि के लक्षण पाये जाते हैं। परन्तु मनुष्य में इन चारों कोषों के साथ आनन्दमय कोष का भी विकास होने के कारण वह आनन्द का अनुभव करता है तथा विशेष बुद्धिमान् होता है। जीव कोषविकास के क्रम से उद्भिज से स्वेदज, स्वेदज से अण्डज, अण्डज से जरायुज पशु आदि और फिर उसमें भी सात्विक, राजस तथा तामस की क्रम-विभिन्नता रहती है और वर्णविभाग होता है। फिर आगे चलकर मनुष्य में भी स्त्री और पुरुष तथा उनमें भी सम्बन्धानुसार व्यवहार का नियम, उचित अनुचित कार्याकार्य का विचार इत्यादि यह सब बुद्धि की ही विशेषता होने के कारण किया गया है जिससे कि वह इस लोक तथा परलोक को सुधारते हुए ऐहिक तथा आमुष्मिक अक्षय सुख शान्ति प्राप्त कर सके।

पशु पक्षी सभी में वर्ण

परमात्मा की सृष्टि आदि के नियम एक हैं और उसी प्रकार प्रकृति भी कार्य करती है, इसीलिए मनुष्य की कौन कहे पशु, पक्षी, वृक्ष आदि में भी वर्ण होते हैं जैसा कि वैदिक प्रमाण है—

"ब्राह्मणो मनुष्याणां अजः पशूनाम्"
"राजन्यो मनुष्याणामविः पशूनाम्"

"वैश्यो मनुष्याणां गावः पशूनाम्"
"शूद्रो मनुष्याणां गर्दभः पशूनाम्"
(तैत्तिरीयसंहिता)

अर्थात् मनुष्यों की भांति पशुयोनि में भी बकरा ब्राह्मण, भेड़ा क्षत्रिय, गौ वैश्य और गधा शूद्र है। इसी प्रकार पक्षियों में भी शुक आदि ब्राह्मण, बाज आदि क्षत्रिय, मयूर आदि वैश्य तथा गीध आदि शूद्र पक्षी कहे गये हैं। वृक्षों में भी पीपल, वट आदि ब्राह्मण, शीशम आदि क्षत्रिय, आम्र आदि वैश्य तथा बांस आदि शूद्र वर्ण के वृक्ष हैं। देवताओं में भी अग्नि ब्राह्मण, इन्द्र क्षत्रिय, विश्वेदेवा वैश्य तथा अन्य अनेकों देवता शूद्र वर्ण के बतलाये गये हैं (तैत्तिरीयसंहिता) काष्ठ तथा मृत्तिका आदि तक में वर्ण का विचार किया गया है। इससे वर्ण धर्म की व्यापकता एवं जन्म सिद्धता स्पष्ट है।

वर्ण धर्म में वैज्ञानिकता

वर्ण धर्म द्वारा उच्चता नीचता उत्पन्न करके घृणा का भाव फैलाने, अहंकार उत्पन्न करने का अभिप्राय तथा उद्देश्य कदापि नहीं है वल्कि जब सम्पूर्ण सृष्टि ही सत्व, रज तथा तम से बनी है, तब उन्हीं गुणों के कारण उनके नाम रख दिये गये हैं अर्थात् परमात्मा ने जिसे विशेष सत्वगुण से उत्पन्न किया, वह ब्राह्मण कहलाया, जिसे सत्व की न्यूनता तथा रज की विशेषता से उत्पन्न किया वह क्षत्रिय कहलाया, जिस को रज की विशेषता तथा तम की न्यूनता से उत्पन्न किया वह वैश्य कहलाया और जिसे तम की अधिकता एवं रज की न्यूनता से उत्पन्न किया, वह शूद्र कहलाया।

महर्षियों ने तो वर्णों के रंगों का भी अन्वेषण किया है—जैसे, सत्व का श्वेत, रज सत्व का लाल, रज तम का पीत और तमःप्रधान का काला। आधुनिक वैज्ञानिकों ने भी इस सूक्ष्म-तत्व का अन्वेषण करके उसे 'अरा' शब्द से बोधित किया है। उन्होंने यह भी बतलाया है कि वह ईथर में प्रकाशित होता और एक दूसरे पर प्रभाव डालता है। अतः सिद्ध है कि सृष्टि के प्रारम्भकाल से ही गुणों का वैषम्य होने से गुणों के तार-तम्य से ही वर्ण भेद की उत्पत्ति हुई तथा गुणों के कारण ही कर्मों में भी विषमता हुई और इसी क्रम से व्यवहार में भी विषमता सिद्ध होती है। इन्हीं सब रहस्यमयी बातों का विचार करके महर्षियों ने व्यावहारिक कर्त्तव्याकर्त्तव्य का निर्णय किया है।

जो जिस वर्ण में होता है, उसे अपने समकक्ष वर्ण में विवाहादि व्यवहार करने से दोष नहीं होता। परन्तु भिन्न वर्णों के साथ व्यवहार करने में अवश्य ही संकरता हो जाती है, जो हानिकारक है। यह वर्ण आदि विभाजन स्थूल शरीर का ही होता है, अतः स्थूल शरीर-सम्बन्धी व्यवहार में ही उनका विधि-निषेध किया गया है। विवाह आदि सम्बन्ध स्थूल शरीर से सम्बद्ध होने कारण सवर्ण—विवाह का विधान है। भोजन सम्बन्धी विचार भी स्थूल शरीर से प्रत्यक्ष संबंध रखने के कारण ही किया गया है एवञ्च स्पर्शास्पर्श का विचार भी इसी स्थूल शरीर के ही साथ है, मानसिक नहीं, अतएव वह घृणा भाव से नहीं, अपितु अपनी-अपनी धर्मरक्षा के लिए है, जिससे सबका कल्याण है। सबका व्यवहार एक होने से दोनों की ही हानि होती है, एक की ही नहीं। स्थूल शरीर के कार्य

का प्रभाव आन्तरिक सूक्ष्म शरीर पर भी भावनारूप से पड़ता है। जन्म का सम्बन्ध आधिभौतिक अथवा पाञ्चभौतिक है, परन्तु कर्म का सम्बन्ध आधिदैविक एवं सूक्ष्म शरीर से होने और ज्ञान का संबंध आध्यात्मिक होने के कारण तीनों का ही परस्पर क्रमेण सम्बन्ध है और इसी के अनुसार अर्थात् गुण और कर्म के अनुसार ही जाति, आयु और भोग प्राप्त होते हैं, जैसा कि महर्षि पतञ्जलि ने बतलाया है—

सतिमूले तद्विपाको जात्यायुर्भोगाः। (योगदर्शन २।१३)

अतएव इन सब धर्ममूलक व्यवहारों में विभिन्नता इसी कारण से है कि सब लोग अपने अपने मार्ग से चलकर परम शान्ति प्राप्त कर सकें तथा संकरताके दोष से बच कर अधोगति में जाने से बच सकें। खान पान और रोटी बेटी का व्यवहार सब में एक हो जाने से एक के गुण दोष तथा एक का रज-वीर्य दूसरे में अनियमित रूप से सम्बद्ध हो कर वर्ण संकरता तथा जाति संकरता हो जायगी, जिससे अपनी ही समष्टि रूप से अवनति है। कुछ लोग कहते हैं कि भंगी आदि से हम लोग घृणाभाव तथा अहंकार के कारण संस्पर्श सम्बन्ध नहीं करते, परन्तु वह भ्रान्ति है। उनके कर्म तथा उनकी प्रकृति की योग्यतानुसार स्वभाव के कारण उनसे सर्व प्रकार का सम्बन्ध रखने से उनकी 'अरा' शक्ति अन्य लोगों में मिश्रित हो जाने तथा उनके स्थूल शरीर से उत्पन्न तामसी विद्युत् शक्ति, जो अदृश्य रूप से सब लोगों पर तत्काल प्रभाव डालती है, अन्य लोगों की शक्ति के साथ सङ्क्रमित होकर उनके स्थूल शरीर को दूषित कर देगी। इस भाव तथा वैज्ञानिक रहस्ययुक्त कारण से उनसे संस्पर्श तथा खान-पान आदि व्यवहारों का सम्बन्ध

नहीं किया जाता। इसमें कोई घृणाभाव नहीं है। हार्दिक प्रेम तो अवश्य ही करना चाहिए, अन्यथा दोष अवश्य है। (व्यास०४।६६)

अनेक परीक्षाओं द्वारा तीन सिद्धांत निर्विवाद प्रकट होते हैं—(१) दूरवर्ती भिन्नजातीय विवाह से उत्पन्न वर्णसंकर प्रजा में माता पिता के दुर्गुण प्रकट होते हैं और वह सृष्टि आगे नहीं चलती। इसी को मनुस्मृति (१०।५८, ५६।६०) में बतलाया गया है। (२) समान वंश या एक ही गोत्र में विवाह होने पर सन्तान निर्बल और बुद्धिहीन होती है। इस प्रकार की सृष्टि अधिक दिन नहीं चलती, क्योंकि रक्तों के उपकरण में कुछ प्रभेद न रहने पर सृष्टि का वेग नहीं आ सकता (यह बात आपस्तम्ब ऋषि ने बतलायी है।) (३) भिन्न गोत्र-प्रवर, किन्तु एक ही वर्ण में विवाह होने पर सृष्टि की धारा ठीक रीति से चलती है। इसका मनु ने ३।५ में वर्णन किया है।)

कहने का तात्पर्य यह है कि वर्ण व्यवस्था, विवाह-व्यवस्था के जो भी नियम शास्त्रों में बतलाये गये हैं, वे सब विज्ञान से सिद्ध तथा बड़ी दूरदर्शितापूर्ण हैं।

इसी आधार पर कहा गया है कि हमारे यहां जो धार्मिक संस्कारों का विधान है, वह स्थूल शरीर से सम्बन्ध रखता है परन्तु उसका प्रभाव आन्तरिक सूक्ष्म शरीर तक पड़ता है। शरीर का संस्कार करके उसे शुद्ध बनाया जाता है। उसमें शक्ति एवं योग्यता उत्पन्न करने के लिए ही संस्कार किया जाता है। तत्पश्चात् वह क्रमशः उन्नति को प्राप्त होता है। यह एक प्रकार का दूसरा जन्म होता है। माता पिता केवल शरीर को जन्म देते हैं, किन्तु आचार्य संस्कार के द्वारा मन, प्राण और आत्मा को जन्म देनेवाला कहा गया है और यह

जन्म विशेष होने के कारण संस्कृत मनुष्य की संज्ञा 'द्विजन्मा' अर्थात् 'द्विजाति' एवं 'द्विज' होती है। उपनयन संस्कार हो जाने के बाद ही वेदाध्ययन आदि का विधान किया गया है।

यह शास्त्र की रहस्यमयी कल्याणकारी आज्ञा है। अपने मन से बाजार से खरीदकर वेद पढ़ने लगें, तो दूसरी बात है। इस प्रणाली को हमारे यहां वेदाध्ययन कहा भी नहीं गया है। अपने आप पढ़ने से स्वर, ध्वनि आदि का ज्ञान तो हो नहीं सकता। उसका परिणाम भी अनिष्ट ही होगा। वेदपाठ गुरुकुल में गुरु के समीप रहकर गुरुमुख से सुन-सीख कर करने का विधान है, अत: उसी विधि से हो सकता है।

संसार में सारा अधिकार तो भगवान् द्वारा ही प्राप्त होता है, क्योंकि वे प्राणी को जिस योनि में गुण कर्मानुसार भेज देते हैं, उसी योनि का अधिकार प्राप्त होता है। तथा उसीसे कल्याण होता है—छान्दोग्यउपनिषद् (५।१०।७) में कहा गया है कि-

तद्य इह रमणीयचरणाऽभ्याशो ह यत्ते रमणीयां योनिमापद्येरन् ब्राह्मण योनिं वा क्षत्रिययोनिं वा वैश्ययोनिं वा तद्य इह कपूयचरणाभ्याशो ह यत्ते कपूयां योनिमाद्येरन् श्वयोनिं वा शूकरयोनिं वा चाण्डालयोनिं वा।

अर्थात् जो अच्छे आचरण वाले हैं, वे ही उत्तमयोनि अर्थात् ब्राह्मण, क्षत्रिय अथवा वैश्ययोनि को प्राप्त करते हैं और जो पापकर्म वाले हैं, वे पापयोनि अर्थात् श्वान, शूकर अथवा चाण्डाल योनि को प्राप्त होते हैं। यहां पर ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, श्वान, शूकर आदि योनियां जन्म से ही कही गयी हैं, जो कि ईश्वरीय नियम

तथा विधान है। 'आपस्तम्ब' में भी दो सूत्र आये हैं जो जन्म से ही वर्ण की उत्पत्ति सिद्ध करते हैं। यथा—

चत्वारो वर्णा ब्राह्मणक्षत्रियवैश्यशूद्राः।
तेषां पूर्वः पूर्वो जन्मतः श्रेयान्। (१।१।१)

अर्थात् वर्ण चार हैं—ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र। वे पूर्वापर क्रम से जन्म से ही श्रेष्ठ हैं इसलिए जो जिस वर्ण में उत्पन्न हुआ है, उसे अपने-अपने वर्ण के अनुसार ही कर्म करने की शिक्षा दी गयी है। परधर्म को भयावह कहा गया है।

श्रेयान्स्वधर्मो विगुणः परधर्मात्स्वनुष्ठितात्।
स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः॥
(गीता ३।३५)

अर्थात् अच्छी प्रकार से किये हुए दूसरे के धर्म से अपना गुणरहित धर्म भी उत्तम है, अपने धर्म में मर जाना भी उत्तम तथा कल्याणकारी है, परधर्म भयदायक कहा है—

स्वे स्वे कर्मण्यभिरतः संसिद्धिं लभते नरः।
(गीता १८।४५)

अर्थात् अपने-अपने कर्म में लगा हुआ मनुष्य परम सिद्ध को प्राप्त होता है।

"नियतं कुरु कर्म त्वं"

अर्थात् तुम नियत कर्म करो, इत्यादि अनेकों भांति से स्वधर्मपालन की शिक्षा दी गयी है और इसी प्रकार चलने से उद्धार का आदेश और व्यवहार का निर्देश किया गया है और इसीलिए हमारा सर्वश्रेष्ठ तथा सार्वभौम कर्त्तव्य यही है कि हम

आन्तरिक हृदय से सबसे समान प्रेम रखते हुए यथा नियम व्यवहार करें, क्योंकि मनुष्य-जन्म केवल विषयकामोपभोग करने के लिए नहीं अपितु कल्याण करने के लिए प्राप्त हुआ है।

आश्रम-व्यवस्था

कहा चुका है कि भारतीय संस्कृति में सनातन धर्म के अनुसार ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र ये चार वर्ण तथा ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और सन्यास ये चार आश्रम माने गये हैं। इस प्रकरण में संक्षेप से कुछ आश्रम धर्म पर प्रकाश डालने की चेष्टा की जा रही है।

ब्रह्मचर्य आश्रम, जीवन की पहली सीढ़ी तथा सदाचार की प्रथम पाठशाला है। इसमें सात्विक जीवन, ब्रह्मचर्य शक्ति—धारण, धार्मिक कृत्य के साथ साथ नैतिक, आदर्श तथा स्वास्थ्य प्रद नियमित जीवनचर्या रहती है। वेदादि शास्त्रों का गुरु के सान्निध्य में अध्ययन करके विद्यार्थी परम तेजस्वी, मेधावी और प्रतिभाशाली होकर, विद्या एवं ज्ञान में निपुण और प्रवीण होकर तब संसार के क्षेत्र में लोक व्यवहार हेतु प्रवेश करते हैं। इस आश्रम का संयम मनुष्य को जीवन भर मार्ग प्रदर्शन करता और काम आता है। उसका स्वास्थ्य उसके आगामी जीवन को आधार शिला के रूप में लाभकारी बना रहता है। इस आश्रम में व्यक्ति जितना अच्छा चाहे बन सकता है। शिक्षा तथा सदाचार एवं धार्मिक दिनचर्या सीखने तथा अभ्यास करने का यह प्रथम आश्रम है।

इस आश्रम से ही विद्या और ज्ञान में निपुण होकर व्यक्ति गृहस्थाश्रम में प्रवेश करता था और जिससे उसका जीवन सुखमय व्यतीत होता था। इसका रहस्य तथा लाभ इस प्रकार है।

रहस्य तथा लाभ

प्रकृति माता सबकी रक्षा तथा पालन पोषण करती है। जो जितना प्राकृतिक नियमों के अनुकूल चलता है तथा जितना प्रकृति के समीप रहता है उतना ही वह अधिक लाभ उठा लेता है। वृक्ष, पशु, पक्षी सब प्राकृतिक नियमों के अन्दर रहते हैं। न तो वे कपड़े पहनते हैं, न छाता लगाते हैं, न दुशाला ओढ़ते हैं, वे सदा प्रकृति की खुली गोद में खेलते हैं। वर्षा ऋतु आई तो वे उसी में स्नान करते, शीतकाल में वे वैसे ही शीत तथा ग्रीष्म में गरमी सहन करते हैं। इस प्रकार वे प्रकृति माता की आनन्दमयी गोद को छोड़ते नहीं हैं अत: वे सहिष्णु और निरोग रहते हैं।

ब्रह्मचर्य आश्रम में प्रवेश करना और पच्चीस वर्ष तक प्रकृति माता की खुली गोद में रहकर सर्वतोप्रकारेण शक्ति, तेज, बल, मेधा और ओज सम्पन्न होकर विद्यावान, बलवान, सच्चरित्र, प्रतिभाशाली तथा आदर्श बनकर तब संसार क्षेत्र में निकलना, वास्तव में यह बहुत ही कल्याणकारी नियम ऋषियों ने बनाये हैं। ब्रह्मचर्याश्रम के नियम ऋषियों ने इस प्रकार बना दिये हैं कि जिससे उनका जीवन नियन्त्रित, संयमित तथा एक प्रकार से नियमित बनकर शास्त्रोक्त शृंखला-निबद्ध बन जाय। बनाव, शृंगार, विलासिता से दूर रखकर ब्रह्मचारी के अन्त:करण को पवित्र, और जीवन को सात्विक रखा जाता है। खुले बदन, खाली पांव, नंगे शिर रहना एक बड़ी भारी तपस्या है जिससे वे शीतोष्ण के वेग को सहन करते हैं सन्ध्या वन्दन, हवन, स्वाध्याय से शारीरिक, मानसिक और बौद्धिक उन्नति के साथ साथ शक्ति का अर्जन और आध्यात्मिक

ज्ञान की प्राप्ति ब्रह्मचारी करते हैं। सूर्य नमस्कार, योग आसन आदि से बहुत लाभ उठाते हैं। ब्रह्मचर्याश्रम का अध्ययन जीवन भर काम देता है। ब्रह्मचर्याश्रम के नियम बड़े ही उपयोगी और लाभदायक हैं जो आगे चलकर बहुत ही सुख पहुंचाते हैं। ब्रह्मचारी बीमारी न होने, गलत रास्ते पर न चलने वाली क्रियाओं से पहले ही अभ्यस्त हो जाता है।

मनुस्मृति में कहा गया है कि ब्रह्मचारी को छाता नहीं लगाना चाहिये, जूता नहीं पहनना चाहिए। जिसका वैज्ञानिक तथा प्राकृतिक रहस्य तथा लाभ यह है कि छाता न लगाने से सूर्य के तेज का संबंध शरीर से रहेगा। इससे शरीर और मस्तक पर धूप पड़ेगी तो सूर्य से प्राण शक्ति प्राप्त होगी और शरीर बलिष्ठ, तेजवान बना रहेगा। काला छाता लगा लेने से सूर्य की सारी किरणें वैज्ञानिक दृष्टि से काले छाते में आत्मसात् हो जाती हैं और फिर सूर्य-किरणों से उत्पन्न दिव्य कल्याण-कारी लाभ से हम वंचित रह जाते हैं। ब्रह्मचारी का सम्बन्ध महाप्रकृति से जितना अधिक हो सकता है उतना रक्खा जाता है। मन का सम्बन्ध परमात्मा की ओर लगाया जाता है। इसी प्रकार की शिक्षा उसे दी जाती है कि वह शारीरिक, मानसिक तथा आध्यात्मिक तीनों प्रकार की उन्नति करे। खुले पैर रहने से पृथ्वी की जो विद्युत् शक्ति है उसके साथ प्राकृतिक शरीर का नैसर्गिक सम्बन्ध है। यह सम्बन्ध बनाये रखने से प्रकृति से शक्ति प्राप्त होती है। प्रातःजागरण, प्रभुस्मरण, पुष्पचयन, गुरु सेवा, देवार्चन सभी कुछ इस आश्रम में लाभकारी होता है। सूर्य व्यायाम के द्वारा सूर्य की प्राणप्रदायिनी शक्ति को लेकर सूर्य रश्मियों से स्नान करके लाभ उठाना और अपने

शरीर को बलिष्ठ, कान्तिवान बनाना ब्रह्मचर्याश्रम के ही महान लाभ हैं। खुली वायु का लाभ भी इसी आश्रम में प्राप्त होता है। संन्यास आश्रम में जितनी तपस्या ब्रह्म प्राप्ति के लिये की जाती है और जो शास्त्र में वर्णन की गई है उन सबका अभ्यास प्राय: ब्रह्मचर्याश्रम में ही हो जाता है जिससे आगे हमारा जीवन सुनियन्त्रित तथा शास्त्रानुकूल व्यतीत होता है और हमें उससे सहायता मिलती है।

ब्रह्मचर्य में शक्ति

ब्रह्मचर्य में बड़ी शक्ति है कहा गया है—

'ब्रह्मचर्येण तपसा देवा मृत्युरपाघ्नत'

अर्थात् ब्रह्मचर्य रूपी तप से देवताओं ने मृत्यु पर भी विजय प्राप्त कर ली।

ब्रह्मचर्य से शरीर बलवान और निरोग रहता है।

श्रुति भी कहती है—

'नायमात्मा बलहीनेन लभ्य:'

ब्रह्मचर्याश्रम में वेदादि शास्त्रों का अभ्यास, सन्ध्यावन्दन, आसन प्राणायाम आदि की शिक्षा से लाभ होता है। जो कुछ हम इस प्रारम्भ की अवस्था में इस आश्रम में कर लेते है वह कमाई हुई पूंजी हमें जीवन में आगे सहारा देती है।

वेदाध्ययन से आध्यत्मिक लाभ, गायत्री उपासना से आधि-दैविक लाभ तथा हवनादि से अग्नि द्वारा आधिभौतिकशक्ति का लाभ ब्रह्मचारी को होता है। भगवान् की अध्यात्मिक शक्ति, ज्ञान के भण्डार वेद से, आधिदैविक शक्ति सूर्य आदि देवताओं से तथा आधिभौतिक शक्ति पार्थिव अग्नि आदि से

प्राप्त होती है। ब्रह्मचारी इन सब का प्रत्यक्ष लाभ उठाता है। ब्रह्मचारी भिक्षा के समय 'भवतिभिक्षां देहिमात:' कहकर संसार की सारी स्त्रियों में मातृभाव की स्थापना करके मातृवत् परदारेषु की भावना को दृढ़ करता है—आजकल लोग संसार की स्त्रियों में पत्नीभाव के दूषित संस्कार उत्पन्न करके मन को अपवित्र बनाते हैं। ब्रह्मचर्याश्रम की यह शिक्षा इस दुर्गुण को रोकती है। इस आश्रम में उसका सारा जीवन व्यापक विशाल दृष्टि कोण को लिये हुये संयमित और सुनियन्त्रित बीतता है जिससे आगे वह चाहे जिस आश्रम में प्रवेश करे उसमें ही सुखमय जीवन व्यतीत करेगा।

छान्दोग्य उपनिषद् (८।१४।१) में आया है कि—

ब्रह्मचारी आचार्य कुल से आर्षग्रन्थों को पढ़कर, यथा विधि सेवा सुश्रूषा करता हुआ समावर्तन संस्कार युक्त परिवार में रहकर पवित्र स्थान में स्वाध्याय करता हुआ सम्पूर्ण इन्द्रियों को अपने आधीन करता हुआ, शास्त्र की आज्ञा से प्राणियों की हिंसा न करता हुआ, समस्त आयु इस प्रकार वर्तता हुआ मोक्ष का अधिकारी बन जाता है तथा जन्म मरण के चक्कर से छूट जाता है। वह निश्चित ही ब्रह्म लोक को प्राप्त होता है।

इस प्रकार लौकिक अभ्युदय तथा नि:श्रेयस की आधार शिला और जड़ ब्रह्मचर्याश्रम की ही शिक्षा है।

इस का समय २५ वर्ष तक ऋषियों ने निर्धारित किया है। इसके पश्चात् द्वितीय आश्रम में प्रवेश करने का क्रम है।

ब्रह्मचर्याश्रम के बाद गृहस्थाश्रम आता है। ब्रह्मचर्याश्रम की धर्म मूलक प्रवृत्ति सम्बन्धी शिक्षा की प्रयोगशाला गृहस्थाश्रम है। जिसका वर्णन इस प्रकार है:—

गृहस्थाश्रम

गृहस्थाश्रम में शास्त्रोक्त विवाह करने की विधि है। उससे उत्पन्न सन्तान से वंश-रक्षा तथा पितृऋण शोध होता है। इसी गृहस्थाश्रम में न्यायपूर्वक धन कमाते हुए तथा धर्म करते हुए मनुष्य को वैषयिक सुख का अनुभव तथा उसकी निस्सारता का ज्ञान हो जाता है जिससे आगे चल कर वह निवृत्ति की ओर अग्रसर होता तथा वानप्रस्थाश्रम में तपोमय जीवन व्यतीत करके साधन करता है। धनसंचय, भोग तथा दान आदि धार्मिक कृत्य गृहस्थाश्रम के ही द्वारा सम्पन्न होते हैं। गृहस्थ का धर्म ही है अतिथि सेवा, साधु सन्यासियों की सेवा, बलिवैश्वदेव तथा अन्य समस्त धार्मिक कृत्यों का सम्पादन करना। मनुस्मृति में कहा गया है—

यथा वायुं समाश्रित्य वर्त्तन्ते सर्व जन्तवः।
तथा गृहस्थ माश्रित्य वर्त्तन्ते सर्व आश्रमाः।

अर्थात् जिस प्रकार प्राण वायु के सहारे सभी प्राणी जीवन धारण करते हैं उसी प्रकार गृहस्थाश्रम के सहारे अन्य आश्रमों के लोग रहते हैं क्योंकि ब्रह्मचर्य, वानप्रस्थ तथा सन्यास आदि तीनों आश्रम गृहस्थ द्वारा विद्या और अन्नदान से प्रतिपालित होते हैं अतः गृहस्थाश्रम सबसे बड़ा आश्रम है।

गृहस्थाश्रम का जीवन बड़ा सुखमय तथा धन्य होता है। कहा गया है—

सानन्दं सदनं सुताश्च सुधियः कान्ता प्रियालापिनी
सन्मित्रं सुधनं स्वयोषितरतिः स्वाज्ञापराः सेवकाः।

आतिथ्यं शिव पूजनं प्रतिदिनं मिष्ठान्न पानं गृहे
साधो संग उपासते च सततं धन्यो गृहस्थाश्रमः ।

अर्थात् जहां आनन्द युक्त घर हो, विद्वान् पुत्र हों, मधुरभाषिणी भार्या हो, सच्चे मित्र हों, सुन्दर धन हो अपनी स्त्री में ही रति हो, आज्ञा पालन करने वाले सेवक हों, अतिथि सत्कार हो, नित्य देवपूजा हो, मिष्ठान्नपान हो, सर्वदा साधु संग हो और उपासना हो वह गृहस्थाश्रम धन्य है।

परन्तु वही गृहस्थाश्रम यदि केवल वैषयिक भोगों का ही साधन मान लिया जाता है तो फिर वह दल दल के समान हो जाता है जिसमें फंसा हुआ मनुष्य फिर बड़ी कठिनाई से निकल पाता है। परन्तु सनातन धर्म का आदर्श यही रहा है कि गृहस्थाश्रम में धर्ममय जीवन व्यतीत करके–'धर्मते विरति' प्राप्त करके आगे मोक्ष साधन का मार्ग पकड़ लेते हैं।

रघुवंश (१ ७-८) में वर्णन आया है । कवि कुल गुरु कालिदास जी लिखते हैं कि जो दान देने के लिए सम्पन्न बनते थे सत्य के लिए ही थोड़ा बोलते थे, यश के लिए विजय करते थे, सन्तानोत्पत्ति पितृऋण चुकाने के लिए ही करते थे (कामोपभोग के लिए नहीं) जो शैशव में विद्याध्ययन करते थे, यौवन में विषयेच्छा तथा वृद्धावस्था में मुनिवृत्ति धारण करते थे और अन्त में योगाभ्यास द्वारा शरीर त्याग करते थे-ऐसे आदर्श का मैं वर्णन कर रहा हूँ।

इस प्रकार ब्रह्मचर्याश्रम में विद्याध्ययन, यौवनावस्था में गृहस्थाश्रम तथा उतरती अवस्था में मुनि वृत्तिधारण करने का वानप्रस्थाश्रम और अन्त में योगाभ्यास द्वारा शरीर परित्याग

करने का संन्यासाश्रम, इन चारों आश्रमों का वर्णन किया गया है। रघुवंश में कहा गया है—

त्यागाय संभृतार्थानाम् सत्याय मितभाषिणाम्,
यशसे विजगीषूणां प्राजायै गृहमेधिनाम् ।
शैशवेऽभ्यस्त विद्यानां यौवने विषयैषिणाम्,
वार्द्धके मुनि वृत्तीनां योगेनान्ते तनुत्यजाम् ।

इस प्रकार ब्रह्मचय आश्रम और गृहस्थाश्रम का आदर्श पहले से भारतीय जीवन में रहा है जिसका यह संक्षेप में वर्णन है।

वानप्रस्थ

उक्त क्रम से ब्रह्मचर्याश्रम में विद्याध्ययन, गृहस्थाश्रम में विद्याध्ययन आदि के उपयोग से जीविका चलाना तथा धर्मपूर्वक गृहस्थी का निर्वाह करते रहना, सन्तानोत्पत्ति करना यह प्रवृत्ति मार्ग का जीवन यापन करना है। यह लगभग ५० वर्ष की अवस्था तक दोनों आश्रम समाप्त हो जाते हैं। इसके बाद वानप्रस्थाश्रम का प्रारम्भ है। इसमें निवृत्ति मार्ग प्रारम्भ होता है। गृहस्थी के अनुभव से कि--सांसारिक विषयों में तृप्ति नहीं है, फिर व्यक्ति अध्यात्म विद्या का अभ्यास करता है। तपस्या मय जीवन व्यतीत करते हुये विषयों से विरत होता है, व्रतोपवास जप, स्वाध्याय तथा उपासना द्वारा भगवत्प्राप्ति के लिए साधना में जुटता है। अन्तःकरण की शुद्धि तथा तपोमय जीवन के अभ्यास से वह अपने को ब्रह्मविद्या में परिनिष्ठित करने का प्रयत्न करता है। शास्त्रों में वर्णन आता है कि राजा महाराजा प्राचीन समय में राज्य छोड़ कर वानप्रस्थाश्रम में चले

जाते थे। वैसे निवृत्त होने की यानी रिटायर्ड होने की प्रथा तो आजकल भी है किन्तु आश्रम व्यवस्था सुचारु रूप से न होने से रिटायर्ड पुरुष साधना में न जुट कर अव्यवस्थित रूप से अन्य कार्यों में प्रवृत्त देखे जाते हैं। भारतीय आदर्श यह नहीं था। भारतीय संस्कृति में भगवत् भजन पूर्वक अपने जीवन को सफल बनाना उद्देश्य था। इसके पश्चात् सन्यास आश्रम में पूर्ण त्यागमय जीवन बिताते हुए ब्रह्मविद्या का अभ्यास करते हुये ज्ञाननिष्ठा में परिनिष्ठित होकर आत्म साक्षात्कार करते थे।

शास्त्रों में यह व्यवस्था दी गई है। जाबालोपनिषद में आया है कि—

ब्रह्मचर्य परिसमाप्य गृही भवेत् गृही भूत्वा वनी भवेत्, बनी भूत्वा प्रव्रजेत। यदि वेतरथा ब्रह्मचर्यादेव प्रव्रजेद् गृहाद्वा वनाद्वा (जाबालोपनिषद् ४)

अर्थात् ब्रह्मचर्य समाप्त करके गृहस्थ होवे, गृहस्थ होकर सन्यासी होवे। अथवा यदि वैराग्य हो तो ब्रह्मचर्य से, गृहस्थ से अथवा वानप्रस्थ से ही संन्यास धारण कर ले।

सन्यास

अन्तिम आश्रम सन्यास आश्रम है। सन्यास आश्रम में सन्यासी अपना कल्याण तो करता ही है। साथ ही संसार को भी शिक्षा देता हुआ लोक कल्याण करता है। 'सर्वभूत हिते रताः' उसका बाहरी ध्येय तथा 'सर्वं ब्रह्ममयं जगत्' उसका सिद्धान्त रहता है और सबमें परमात्मा का स्वरूप देखता हुआ वह अपना तथा संसार दोनों का हित तथा कल्याण करता है। यह संक्षेप में चारों आश्रमों की रूप रेखा है।

इस क्रम से चारों आश्रमों की व्यवस्था से मनुष्य-जीवन सार्थक हो जाता है और लोक तथा परलोक दोनों में कल्याण होकर आत्मस्थिति की प्राप्ति होती है और मनुष्य कृतकृत्य हो जाता है।

हमारे व्रत, पर्व और त्योहार

सनातन धर्म की दृष्टि से भारतवर्ष में अनेक व्रत, पर्व और त्योहार भी होते चले आ रहे हैं। भारतीय जनता और विशेष करके घर की मातायें इनकी परम्परा को आज तक अक्षुण्ण बनाये हैं। यद्यपि आज तक इन विषयों पर क्यों ? और कैसे ? का प्रश्न उठाना लोगों के लिए एक साधारण सी बात हो गई है। उस पर तर्क अवश्य होता है, तथापि हमें उसकी गहराई, महत्ता पर ध्यान देना चाहिए। हमारे त्योहार, व्रत और पर्व प्रत्येक दृष्टि से महत्वपूर्ण हैं। ऋषियों ने बड़ी सूक्ष्म बुद्धि से इनका निर्माण करके हमारे कल्याण का मार्ग-शोधन किया। इन से समाजिक, लौकिक, व्यावहारिक तथा राष्ट्रीय लाभ हैं। व्यक्तिगत कल्याण, समष्टिगत उन्नति राष्ट्रोत्थान सभी कुछ इसमें छिपा हुआ है। व्रत से कायिक, वाचिक, मानसिक शुद्धि होती है, पापों का शमन होता है इन्द्रिय दमन होता है, अन्तःकरण शुद्ध होता है। निर्मलता से प्रेम, सद्भावना आदि दैवी सम्पत्ति का विस्तार होता है। रोग भी एक प्रकार का पाप ही है वह भी व्रतोपवास से नष्ट हो जाता है। ज्योतिष शास्त्र के अनुसार उसका विधान किया गया है जिससे ग्रह नक्षत्रादि का भी प्रभाव उस पर पड़ता है। शारीरिक शुद्धि, तथा आध्यात्मिक उन्नति होती है। श्रद्धा, भक्ति सद्विचार उत्पन्न होते

हैं—संकल्प शक्ति प्रबल हो जाती है। तेज, ओज सभी कुछ आ जाता है। यह व्रत की महिमा है।

व्रत के लक्षण तथा लाभ

व्रत के लक्षण के विषय में हेमाद्रि व्रत खण्ड में लिखा है कि किसी लक्ष्य को सामने रखकर विशेष संकल्प के साथ लक्ष्य सिद्धि के अर्थ की जाने वाली क्रिया विशेष का नाम व्रत है। व्रत नित्य, नैमित्तिक और काम्य के भेद से तीन प्रकार के होते हैं। एकादशी आदि के व्रत नित्य व्रत हैं, पापक्षय आदि निमित्त को लेकर अनुष्ठान किये गये चान्द्रायण आदि व्रत नैमित्तिक हैं और किसी विशेष तिथि में किसी विशेष कामना के साथ अनुष्ठित व्रत काम्य व्रत कहलाते हैं।

व्रत तथा उपवास में बड़ा लाभ अन्तर्निहित है, एवं इसमें सभी लोगों का अधिकार है। कहा गया है कि—

व्रतोपवास नियमैःशरीरोत्तापनैस्तथा।
वर्णाः सर्वोऽपिमुच्यन्ते पातकेभ्यो न संशयः॥

अर्थात् व्रत, उपवास, नियम तथा शरीरिक तप के द्वारा सभी वर्ण के मनुष्य पापमुक्त होकर पुण्य प्रभाव से उत्तम गति प्राप्त करते हैं इसमें कोई भी संशय नहीं है। वेदों में भी व्रत का वर्णन है यथा—

'वयंसोमव्रते तव' (यजुर्वेद ३।५६)
'अग्ने व्रतपते व्रतं चरिष्यामि (यजुर्वेद १।५)

हेमाद्रि व्रतखण्ड में भी लिखा है कि चारों वर्ण के स्त्री पुरुषों का व्रत में अधिकार है—

"चतुर्णामपि वर्णानां स्त्री पुंसाधारण्येन व्रतेष्वाधिकारः।"

व्रत से आध्यात्मिक लाभ के साथ ही साथ आधिदैविक और आधिभौतिक लाभ भी होता है। जिसका वर्णन इस प्रकार है—

एकादशी अमावस्या पूर्णिमा आदि तिथियों पर प्रायः व्रत किया जाता है। इन तिथियों पर ग्रहों नक्षत्रों का आकर्षण भी पृथ्वी पर अधिक रहता है तथा शरीर में पार्थिव तत्त्व की प्रधानता रहने के कारण शरीर पर भी उसका प्रभाव पड़ता है इस लिये इन तिथियों पर व्रत तथा उपवास स्वास्थ्य के लिये बहुत ही लाभदायक तथा हितकारी होता है। व्रत के समय ऋषियों ने कुछ ऐसे नियम बना दिये हैं जिससे मनुष्य की उद्दाम प्रवृत्तियां स्वयं ही शान्त हो जाती हैं। आहार न होने से विषय वृत्ति नष्ट होती है। भगवान् श्री कृष्णचन्द्र जी ने भी श्रीमद्भगवद् गीता में कहा है कि निराहारी जीव के विषय निवृत्त हो जाते हैं—

'विषया विनिवर्त्तन्ते निराहारस्य देहिनः'

(गीता २।५९)

व्रत में संयम के कारण इन्द्रियों की उत्तेजना तथा विकार शान्त होते हैं। व्रत के दूसरे दिन शरीर, इन्द्रिय तथा मन निर्मल हो जाता है और पाचन यन्त्र स्वस्थ होकर शक्ति अर्जन करके सुचारु रूप से कार्य करने लगता है।

उपवास

उपवास में रोग के बीज नष्ट हो जाते हैं, संचित मल निकल जाता है तथा शरीर शोधन हो जाता है। उपवास के बाद वास्तविक भूख लगती है तथा शरीर हलका हो जाता है,

इन्द्रियों में स्फूर्ति आ जाती है तथा मन प्रसन्न हो जाता है। उपवास में पंचकोषों तक का शोधन हो जाता है। हमारे शरीर में अन्नमय, मनोमय, प्राणमय, विज्ञानमय तथा आनन्दमय-ये पांच कोष हैं जिनमें अन्न, मन तथा प्राण आदि की क्रम से प्रधानता रहती है। उपवास से इन सब पर प्रभाव पड़ता है। इससे अन्त:करण पवित्र तथा अन्तरात्मा निर्मल हो जाती है।

उपवास का उद्देश्य है सात्विक गुणों की वृद्धि और पाप-स्वरूप रजस्तमोगुण के कार्यों से विरत होना। भविष्य पुराण में उपवास के विषय में कहा गया है—

उपावृत्तस्य पापेभ्यो यस्तु वासोगुणै सह ।
उपवासः स विज्ञेयः सर्व भोग विवर्जितः ॥

अर्थात् सम्पूर्ण पापकर्मों से निवृत्त होकर इन्द्रिय भोग्य विषयों से विरत रहकर सात्विक गुणों के साथ स्थिति का नाम उपवास है। अनशन पूर्वक सात्विक गुणों के साथ वास करने से उपवास होता है, जो लोग अनशन में असमर्थ हैं उनके लिये भी शास्त्र ने अनुकूल व्यवस्था की है। ब्रह्मवैवर्त्तपुराण में कहा गया है—कि दुर्बल मनुष्य जो अनशन न कर सकें तो फल, मूल, दूध और जल लेने से व्रत भंग नहीं होगा तथा व्रत का शुभ फल मिलेगा।

'उप' और 'वास' इन दोनों से मिलकर 'उपवास' शब्द बना है। 'उप' का अर्थ है समीप तथा वास का अर्थ है रहना। इस प्रकार उपवास का अर्थ है परमात्मा के समीप रहना अर्थात् परमात्मा का तत्त्व, गुण तथा रहस्य सुनना, समझना और विचार करना और उनका ध्यान करते हुये समय बिताना। मुख

बन्द करने के साथ साथ इन्द्रिय तथा मन पर भी नियन्त्रण करने तथा परमात्म तत्त्व से युक्त रहने से ही वास्तविक उपवास सम्पन्न होता है। इसीलिये श्रुति कहती है—

उप समीपे यो वासो जीवात्मपरमात्मनोः।
उपवासः स विज्ञेयो न तु कायस्य शोषणम् ॥
(वराहोपनिषद् ३६)

आधिभौतिक लाभ यह है कि व्रत में जो उपवास आदि का विधान है उससे हमारा स्वास्थ्य भी ठीक रहता है। अनेक प्रकार का तथा अधिक भोजनादि करने के कारण जो अपच आदि हो जाता है तथा शरीर व्याधिग्रस्त हो जाता है वह इस समय नियन्त्रित होकर विश्राम पा जाता है। उच्छृंखल वृत्तियां शान्त हो जाती हैं राष्ट्रीय लाभ की दृष्टि से भी यदि हम देखें तो यदि एक दिन सभी लोग व्रत उपवास रक्खें तो न मालूम कितने अन्न की बचत देश में हो जाय, यह आर्थिक लाभ है, आज अन्न की समस्या भी हमारे देश में एक विशेष प्रश्न बन रही है, उपवास से इसमें भी सहायता मिलती है। फलाहार की जो व्यवस्था हमारे यहां की गई है उससे ऋतु के अनुसार फलादि लेने से शरीर के स्वास्थ्य पर प्रभाव पड़ता है। आहार का प्रभाव मन पर पड़ता है। अब आगे देखिए आधिदैविक लाभः—

आधिदैविक लाभ यह है कि व्रत आदि में संयम होने से दैवी शक्ति प्राप्त होती है और बाद में दिव्य सिद्धियां भी प्राप्त हो जाती हैं। नेत्रों का संयम करने से दिव्य दृष्टि, वाणी के संयम से वाक् सिद्धि आदि प्राप्त होती है। यह तो एक प्रकार की तपस्या है, इससे तपोबल के द्वारा बड़ी बड़ी विभूतियां

ऐश्वर्य आदि की प्राप्ति होती है। प्रत्येक व्रत में कुछ न कुछ दैवी उपासना का भी योग रहता है। उपासना चाहे सकाम हो या निष्काम, उससे दैवी सम्बन्ध तो हो ही जाता है अतः तत्सम्बन्धी देवता से सम्बन्ध होने पर इष्टदेव के दिव्य गुणों का समावेश अपने में होता है जिससे शरीर, मन प्राण, आत्मा आदि सभी आनन्द से आप्लावित हो जाते हैं। और फिर उससे आध्यात्मिक उन्नति होती है। ऋषि लोग इस प्रकार की तपस्या करने में प्रसिद्ध रहे हैं:-

करहिं अहार शाकफल कन्दा।
सुमिरहिं ब्रह्म सच्चिदानन्दा॥

यह श्री रामचरित मानस में प्रसिद्ध है। श्री पार्वती जी की तपस्या व व्रत का क्रम भी एक बहुत बड़ा महत्त्व रखता है।

नित नव चरन उपज अनुरागा।
बिसरी देह तपहि मन लागा॥
संवत सहस मूल फल खाये।
सागु खाय सत वरष गंवाये॥
कछु दिन भोजन वारि वतासा।
किये कठिन कछु दिन उपवासा॥
बेल पाती महि परै सुखाई।
तीनि सहस संवत सो खाई॥
पुनि परिहरे सुखानेउ परना।
उमहि नाम तब भयेउ अपरना॥

(बालकाण्ड ७३।३-७)

इस प्रकार पहले मूल फिर फल, फिर शाक, फिर जल, फिर वायु और फिर सूखी बेल पत्ती इत्यादि का क्रम भी बड़ा ही रहस्यमय और वैज्ञानिक है। मूल से फल, फल से शाक, शाक से जल और जल से वायु पर आजाना—इस प्रकार साधना को क्रम से सूक्ष्म किया गया है। स्थूल तत्त्वों को धीरे-धीरे छोड़ते हुये सूक्ष्म तत्त्व में पहुंचा गया है। वायु तत्त्व और सूखी बेल पत्र तक पहुंचा कर फिर उसका भी परित्याग कर दिया गया है। विचार करने पर ज्ञात होता है कि व्रत, तपस्या, उपवास तथा इस प्रकार के भोजन के क्रम में भी एक बहुत बड़ा विज्ञान तथा रहस्य है। और वह इस प्रकार है कि हमारा यह स्थूल शरीर पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और आकाश इन पांच तत्त्वों से बना हुआ है—

छिति जल पावक गगन समीरा।
पंच रचित यह अधम सरीरा॥

यह प्रसिद्ध है। अतः इसके अनुसार शरीर के उचित निर्माण, पोषण तथा संरक्षण के लिये इन पांचों तत्त्वों की आवश्यकता होती है। स्थूल शरीर में अन्नमय कोष में पार्थिव तत्त्व की प्रधानता है अतः पार्थिव तत्त्व प्रधान दाल, चावल गेहूं आदि अनाज का प्रयोग स्थूल शरीर की रक्षा के लिये अधिक मात्रा में आवश्यक होता है। जल तत्त्व प्रधान शाक तथा तरकारियां आलू आदि हैं तथा अग्नि तत्त्व प्रधान सूर्य और धूप में पके हुये फल आदि हैं तथा वायु प्रधान पत्तियां हैं घी आदि में अग्नि तत्त्व प्रधान है। अतः इस प्रकार इनका प्रयोग प्रत्येक तत्त्व की कमी की पूर्ति में होता है और जिस प्रकार का अन्न तथा भोज्य पदार्थ शरीर में जाता है उसी प्रकार

उसी तत्त्व से सम्बन्धित तत्त्वों का पोषण होता है और वही तत्त्व शरीर में तेज तथा शक्ति से सम्पन्न होते हैं। जो तत्त्व जितना अधिक सूक्ष्म है उतना ही अधिक वह शक्ति--सम्पन्न भी है।

तत्त्व की दृष्टि से एक बात और भी है वह यह है कि पंच तत्त्वों में स्थूल और नीचे पृथ्वी है, उससे सूक्ष्म और ऊपर जल है, उससे भी ऊपर अग्नि (सूर्य) है और उससे ऊपर वायु है तथा सबसे ऊपर आकाश तत्त्व है। इस प्रकार उपयोगिता, आवश्यकता तथा युक्ति की दृष्टि से दाल और अनाज का भोजन सबसे स्थूल और नीचे की श्रेणी का है, तरकारियां उससे ऊपर की श्रेणी की तथा फल उससे भी ऊंची श्रेणी के और पत्तियां सबसे ऊंची श्रेणी की हैं।

(श्री रामचरित मानस में श्री पार्वती जी की तपस्या के क्रम में ऐसे ही वर्णन किया गया है। वायु के बाद—'बेल पाती महि परइ सुखाई।' बेल की पत्तियों के खाने का वर्णन है और फिर उसके बाद किसी चीज के खाने का वर्णन नहीं है।)

लौकिक दृष्टि से उत्पत्ति के क्रम में भी अन्न से ऊपर शाक, उससे ऊपर (वृक्ष पर) फल, और फल के ऊपर पत्तियां होती हैं। इस प्रकार प्रकृति का क्रम भी बड़ा ही रहस्यमय और वैज्ञानिक है। इसके अतिरिक्त एक और भी विचित्र बात यह है कि पृथ्वी तत्त्व अकेला है, जल तत्त्व में जल स्वयं है। और आगे उससे उत्पन्न पृथ्वी तत्त्व है, अग्नि तत्त्व में अग्नि स्वयं और आगे उससे उत्पन्न होने वाले जल और पृथ्वी ये तीनों तत्त्व समाहित हैं। इसकी पुष्टि इस प्रकार हमारे शास्त्र भी

करते हैं कि आकाश से वायु, वायु से अग्नि, अग्नि से जल तथा जल से पृथ्वी तत्व की उत्पत्ति हुई है। इस प्रकार इसमें वैज्ञानिक रहस्य भरा पड़ा है। जो जितना सूक्ष्म उपवास कर ले जाता है उतनी ही उसकी तपस्या महान होती है—और उतना ही अधिक उसको फल तथा लाभ भी होता है।

आध्यात्मिक लाभ यह है कि व्रत के अनुष्ठान से अन्त-र्बहिरिन्द्रिय संयम के कारण, ब्रह्मचर्य, सदाचार तथा सात्विक क्रिया, भाव आदि का उदय होता है, अन्तःकरण शुद्ध होता होता है और अन्तःकरण शुद्ध होने पर ज्ञान का अधिकार प्राप्त होता है। इस तपस्या से आत्मानुभूति होती है, सत्य, तप, ब्रह्मचर्य तथा ज्ञान से आत्मा की उपलब्धि होती है, उपनिषद् में वर्णन है–

'सत्येनलभ्यस्तपसा ह्येष आत्मा
सम्यग् ज्ञानेन ब्रह्मचर्येण नित्यम्।'

(मुण्डको० ३।१।५)

और भी कहा–

'तपसा कल्मषं हन्ति, विद्ययामृतमश्नुते।'

अर्थात् तपस्या से मन निर्मल हो जाता है, और निर्मल मन हो जाने पर ज्ञानोदय के द्वारा अमृतत्व का लाभ होता है–

'निर्मल मन जन सो मोहिं पावा।
मोहिं कपट छल छिद्र न भावा॥'

चित्त की वृत्तियां शान्त और स्थिर हो जाती हैं और ध्यान लग जाता है। और यह ध्यान समाधि में परिणत हो जाता है

फिर उस आनन्द का वर्णन ही क्या किया जाय ! वह तो अनुभव का विषय है, वाणी उसका वर्णन नहीं कर सकती। कहा गया है—

'समाधिनिर्धूत मलस्य चेतसो
निवेशितस्यात्मनि यत् सुखं भवेत्।
न शक्यते वर्णयितुं गिरा तदा
स्वयं तदन्तःकरणेन गृह्यते।
(पंचदशी ब्रह्मानन्दे योगानन्द प्रकरणम् ११८)

तथा जिससे बढ़कर दूसरा कोई लाभ नहीं।

'यं लब्ध्वा चापरंलाभं मन्यतेनाधिकं ततः'
(गीता ६।२२) अस्तु

विस्तार भय से और अधिक नहीं लिखा जा रहा है।

पर्व

पर्व-हमारे महापुरुषों की स्मृति कराते हैं एक आदर्श की भावना हमारे सामने पुनर्जागृत करते हैं जिनसे हमें प्रेरणा मिलती हैं। हमारे जीवनपथ में एक उत्साह का संचार होता है उल्लास की धारा बहती है, हर्ष से हृदय प्रफुल्लित हो जाता है। एक स्थान पर एक पर्व हुआ कि समस्त भारत के लोग वहां पर एकत्र हो गये। सूर्य ग्रहण के समय कुरुक्षेत्र, चन्द्र-ग्रहण के समय काशी, सोमवती अमावस पर नैमिषक्षेत्र, कुम्भ पड़ने पर प्रयाग, हरिद्वार, नासिक उज्जैन आदि स्थानों

पर सभी लोग, साधु, सन्यासी, सन्त, महात्मा, सभी वर्णाश्रम के लोग, स्त्री पुरुष विना प्रयास एकत्र हो जाते हैं-संगठन का कैसा अपूर्व रूप है कि अपना ही एक ही विशाल स्वरूप देखने में आता है। खान पान, वेषभूषा, भाषा प्रान्तीय विभिन्नता, मत सम्प्रदाय आदि सभी बाह्य भिन्नता वहां पर आन्तरिक अभिन्नता के रूप में दृष्टिगोचर होती है, आस्तिक भारतवर्ष की अखण्डता प्रमाणित करने में इसका प्रत्यक्ष सहयोग रहा है। जहां पर कि संसार में लोगों को अपने व्यवहार तथा कार्य से अवकाश ही नहीं मिलता वहां पर हम ऐसे अवसर पर एक स्थान पर एकत्र होकर अपनी लौकिक, सामाजिक, आत्मिक तथा राष्ट्रीय उन्नति करते हुए एकता का परिचय देते हैं। यह हमारे पर्वों की महानता है।

ऋषियों ने चार वर्ण तथा चार आश्रम की व्यवस्था की और पर्व तथा त्योहार इस क्रम से रक्खे कि उनकी सूझ पर आश्चर्य होता है। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र इन चारों वर्णों के लिये एक एक त्योहार की प्रधानता रक्खी। यद्यपि इन सबमें सहयोग सबका है तथापि एक एक वर्ण की एक एक त्योहार में प्रधानता है। यथा श्रावण के मास में श्रावणी पर्व में ब्राह्मणों की प्रधानता, इसके बाद आश्विन मास में विजयदशमी अर्थात् दशहरा के पर्व में क्षत्रियों की प्रधानता तथा इसके पश्चात् दीपावली (दिवाली) में कार्त्तिकमास में व्यापारी वर्ग वैश्य वर्ण की प्रधानता तथा फाल्गुन मास में होली पर्व में चतुर्थ वर्ण के साथ साथ सभी लोगों की प्रधानता है। यहां पर सर्व प्रथम हम श्रावणी पर्व को ले रहे हैं तथा उस पर कुछ प्रकाश डालने की चेष्टा की जा रही है।

श्रावणी

श्रावण शुक्ल पूर्णिमा को श्रावणी का एक महान् पर्व आता है। इसे ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य ब्रह्मचारी, गृहस्थ तथा वानप्रस्थी सभी मानते हैं। श्रावणी के इस महान् पर्व को लोग उपाकर्म भी करते हैं। यह कर्म द्विजाति मात्र के लिये इसलिये अनिवार्य माना जाता है कि लोगों की वैदिक परम्परा विच्छिन्न न हो जाय तथा द्विज वेदों को भूल न जायें। अपने अपने वेद की शाखा की आवृत्ति कम से कम एक बार उस दिन अवश्य ही हो जाय। इसीलिये इस कर्म में संकल्प किया जाता है। उसका तात्पर्य भी यही निकलता है कि जो वेद मैंने पढ़े हैं या जो पढ़ूंगा उसकी पर्युषिता (बासीपन) की निवृत्ति तथा पुष्टि के लिये मैं यह कर्म करता हूँ।

श्रावणी का यह महान् पर्व द्विजाति मात्र के लिये आत्म-शोधन का साधन हैं। वैसे भारतीय संस्कृति के प्रत्येक पर्व और त्योहार में वैज्ञानिक रहस्य भरा है, और प्रत्येक कर्म के लिये कोई न कोई त्योहार विशेष महत्त्व रखता है—इस दृष्टि से श्रावणी का यह पर्व ब्राह्मण वर्ण प्रधान माना जाता है। इन पर्वों में एकता के सूत्र में बंधकर, लौकिक लाभ के सहित आत्म-शोधन का कल्याणकारी लाभ भी उपलब्ध होता है। इसलिये इन्हें मानना तथा इनकी परम्परा को अक्षुण्य बनाये रखना प्रत्येक दृष्टि से लाभदायक, उपयोगी तथा कल्याणकारी माना गया है।

वैज्ञानिक रहस्य

श्रावणी के इस पर्व पर प्राय: लोग किसी नदी या तालाब के किनारे एकत्र होते हैं और वैदिक विधि के अनुसार स्नान, सूर्याराधन, प्राणायाम, ऋषि पूजन आदि विविध कर्मों के द्वारा शारीरिक, मानसिक तथा आध्यात्मिक शुद्धि करते हैं जिससे साल भर की भूलों का एक प्रकार से प्रायश्चित होकर आत्म-शोधन हो जाता है। शारीरिक और मानसिक पवित्रता से अन्त:-करण निर्मल हो जाता है और एक अपूर्व आनन्द की अनुभूति होती है। इस श्रावणी उपाकर्म में मुख्यतया स्नान, तर्पण, सूर्यो-पस्थान, ऋषिपूजन तथा यज्ञोपवीत धारण आदि कर्म को सम्पन्न करवाते हैं। श्रावणी का यह स्नान कर्म कोई साधारण स्नान नहीं बल्कि आत्मशोधन का एक महान् उपाय है और कल्याणकांक्षी व्यक्ति का एक प्रकार से जलाभिषेक है जो उसे पूर्णतया शुद्ध बना देता है इस कर्म में मिट्टी, गोमय आदि से स्नान, पंचगव्य पान आदि कर्म किये जाते हैं-जिनमें बड़ा ही रहस्य भरा हुआ है और उनसे हमें बहुत लाभ होता है। मिट्टी के स्नान से शारीरिक मल की निवृत्ति होती है। और वह मिट्टी साधारण मिट्टी नहीं बल्कि भस्म होती है। मिट्टी में शारीरिक रोगों का नाश करने की अपूर्व शक्ति तथा क्षमता है—प्राकृतिक चिकित्सा में तो मिट्टी के द्वारा उपचार किया जाता है और उससे विलक्षण लाभ होता है। यज्ञ भस्म के स्नान से तो त्वचा सम्बन्धी अनेक रोग नाश हो जाते हैं। यज्ञ में अनेक प्रकार की सामग्री हवन की जाती है उसकी बची हुई भस्म तो ऐसी होती है जैसे वैद्य लोग स्वर्ण भस्म, लौह भस्म आदि बनाते हैं और उससे रोग निवारण करते हैं। गोमय स्नान से दूषित

कीटाणुओं का नाश होता है, दुर्गन्ध दूर होती है। आपके हाथ में मिट्टी का तेल या अन्य कोई दुर्गन्ध युक्त पदार्थ लग जाय और आप गोबर सेहाथ साफ कर दें तो दुर्गन्ध दूर हो जायगी और हाथ साफ निर्मल और दूषित पदार्थ से रहित हो जांयगे। गोमय में विषाक्त तत्त्व के नाश करने की विलक्षण शक्ति है–हम लोगों का दुर्भाग्य है जो आज इसके महत्त्व और गुण को भूल गये, अब तो सुगन्धित साबुन और स्नो क्रीम का ही बोलबाला है। हमें इसके महत्त्व को समझना चाहिये। आयुर्वेद में गोबर के बहुत ही गुण लिखे हैं। किसी प्रकार की दुर्गन्ध हो (मनुष्य के शरीर से अनेक प्रकार की दुर्गन्ध आने लगती है) गोमय स्नान नियम से करने से निश्चय ही दूर हो जाती है। यह इसका गुण है। इन वस्तुओं के सम्पर्कयुक्त स्नान के बाद कुश,दूर्वा तथा अपामार्ग आदि अनेक औषधियों से शिरका मार्जन होता है। यह तीनों वनस्पतियां अपने विशेष गुणों के लिये प्रसिद्ध हैं, इनसे मिश्रित जल शरीर पर पड़ने से विलक्षण लाभ होता है। मूर्धा पर पड़कर इनके जलकण मस्तिष्क को अपूर्व शीतलता प्रदान करते हैं और शिरोरोग की भी शान्ति होती है। इस प्रकार शारीरिक बाह्य शुद्धि हो जाने के बाद पंचगव्य पान के द्वारा आन्तरिक शुद्धि होती है। पंचगव्य गाय का दूध, दधि, घृत, मूत्र और गोमय तथा मधु आदि से मिश्रित वह विचित्र रसमय तथा विलक्षण लाभकारी वस्तु है जो हड्डी के अन्दर तक के दोषों को नाश करने की क्षमता रखता है। यह पंचगव्य, वात, पित्त और कफ इन तीनों दोषों का नाश करने वाला बुद्धि बर्द्धक, शरीर शोधक तथा खुजली, अपस्मार, मृगी आदि अनेक भयंकर रोगों को भी समूल नाश

करने वाला है। इसीलिये प्रत्येक धार्मिक कृत्य में तथा प्राय-श्चित में भी प्राय: पंचगव्य अवश्य पान कराया जाता है। यह आन्तरिक शरीर की शुद्धि के लिये महौषधि है।

इसके बाद सूर्योपस्थान का अनुष्ठान होता है। सूर्य भगवान् की हमारी बुद्धि के प्रेरक तथा ज्ञान प्रदाता हैं। इसलिये उन सविता देवता से उर्ध्व बाहु होकर हम निर्मल बुद्धि की याचना करते हैं। इसके पश्चात् ऋषिपूजन, स्वाध्याय, प्रवचन, यज्ञोपवीत धारण आदि की क्रियाओं द्वारा हम आत्मशुद्धि के लिये अनुष्ठान करते हैं। संक्षेप में इसके कुछ लाभों का वर्णन किया गया है। श्रावणी के इस वैदिक अनुष्ठान से मानव के हृदय में यह भावना उत्पन्न हो जाती है कि उसके पापों की निवृत्ति हो गई है और वह अब परम पवित्र हो गया है और वह अब आगे ऐसा कर्म नहीं करेगा जिससे कि उसकी आत्मा कलुषित हो। लोगों को इसका उल्टा अर्थ यह न लगा लेना चाहिये कि—हम श्रावणी कर्म से पापों से निवृत्त हो ही जाते हैं तो फिर साल भर पाप करो, श्रावणी आने पर उसके द्वारा प्रायश्चित कर लेंगे और फिर उससे निवृत्त हो जांयगे। ऐसे तो कभी भी उसका निस्तार नहीं होगा। अत: आत्मशोधन की ओर मनुष्य को सदा ही प्रयत्नशील रहना चाहिये। भूतकाल में प्रमाद अथवा अज्ञान से हुये दुष्कर्मों की निवृत्ति पूर्वक आगे दुष्कर्म में न प्रवृत्त होना तथा शुभ कर्म की प्रेरणा देना यह इसका महान् उद्देश्य तथा कल्याणकारी लक्ष्य है। इस दृष्टि से इस पर्व का कितना महत्त्व है—यह वर्णन नहीं किया जा सकता।

रक्षा बन्धन

श्रावणी तथा उपाकर्म के साथ साथ उसी दिन रक्षाबन्धन का भी बहुत बड़ा त्योहार जुड़ा हुआ है। इस दिन ब्राह्मण लोग रक्षा का सूत्र (राखी) हाथों में बांधते हैं, लोग उन्हें दक्षिणा देते हैं। घर में सेवइयां बनती हैं—पूड़ी पक्वान के द्वारा स्वागत सत्कार किया जाता है और बड़े प्रेम से लोग भोजन करते हैं। शास्त्रों में लिखा है कि इस रक्षा बन्धन के पर्व पर धारण किया हुआ रक्षा सूत्र सम्पूर्ण रोगों तथा अशुभ कर्मों का विनाशक है। इसे वर्ष में एक बार धारण करने से मनुष्य साल भर रक्षित हो जाता है।

सर्वरोगोपशमनं सर्वाशुभ विनाशनम्।
सकृत् कृतेनाव्दमेकं येन रक्षा कृता भवेत्॥

(भविष्य पुराण)

पुराणों में यह भी वर्णन आया है कि इन्द्र असुरों से पराजित न हों अतः उनकी रक्षा के लिये इन्द्राणी ने ब्राह्मणों के द्वारा वेद मन्त्रों से स्वस्तिवाचन आदि कराकर इन्द्र के हाथ में वृहस्पति की अनुमति से आज के दिन रक्षा सूत्र बंधवाया था। इससे देवराज इन्द्र अभय हो गये थे। और इसी रक्षा सूत्र के बल पर उन्होंने शत्रुओं पर विजय प्राप्त की थी। उस काल की स्मृति आज भी नई बनी हुई है जिसके प्रमाण स्वरूप निम्नलिखित श्लोक आज भी राखी बांधन के समय पढ़ा जाता है–

येन बद्धो बली राजा दानवेन्द्रो महाबलः ।
तेन त्वा प्रतिबध्नामि रक्षे! मा चल! मा चल ॥

अर्थात् जिस प्रयोजन से उक्त रक्षा सूत्र से दानवों का सम्राट् महाबली, राजा बलि बांधा गया था । (अर्थात् वामन भगवान् को दान देते समय इस रक्षाबन्धन से आबद्ध होने पर वह सर्वस्व जाता हुआ देखकर भी विचलित नहीं हुआ था) उसी प्रयोजन से हे रक्षासूत्र ! आज मैं तूझे बांधता हूँ अतः तू भी अपने निश्चित उद्देश्य से विचलित न हो ! दृढ़ बनी रह ।

रक्षा बन्धन के समय यजमान अपने ब्राह्मण पुरोहितों से राखी बंधवाते हैं, दक्षिणा देते हैं और आशीर्वाद प्राप्त करते हैं । राजपूती समय में लड़कियां राजाओं को भी राखी भेजती थीं, बांधती थीं--इसका तात्पर्य था कि मैं तुम्हारी बहन या लड़की हूँ—तुम्हारी रक्षा चाहती हूँ। राजा लोग प्राणप्रण से रक्षा करते भी थे ऐसा इतिहास में वर्णन भी आया है। जैसा कहा जाता है कि महारानी कर्णवती ने गुजरात के शासक बहादुरशाह के आक्रमण से रक्षा हेतु तत्कालीन शासक हुमायूं को राखी भेजी थी और उसने भी अपने सैन्यबल से उसे रक्षार्थ सहायता पहुँचाई थी। उस राखी की रक्षा के लिये उसने भाई बहिन के पवित्र सम्बन्ध का एक आदर्श उपस्थित कर दिया।

रक्षा बन्धन का यह त्योहार हमें राष्ट्रीय एकता के लिये जागरूक करता है और संगठन के दृढ़ बन्धन की प्रेरणा देता हुआ नव चेतना का संचार करता है। हमारी भारतीय संस्कृति का जीता जागता चित्र हमारे इन पर्व और त्योहारों में मिलता है ! हम इनसे उदासीन न हों बल्कि इनके महत्त्व को समझें,

इससे हमारा तथा समाज का एवं सम्पूर्ण राष्ट्र का अवश्य कल्याण होगा।

इसके बाद अब विजयदशमी पर प्रकाश डाला जाता है।

विजयदशमी

विजय दशमी हमारी हिन्दू जाति का एक महान् राष्ट्रीय पर्व है। इसी दिन मर्यादा पुरुषोत्तम भगवान श्री रामचन्द्र जी ने नवदिन तक भगवती दुर्गा महाशक्ति की उपासना करके शक्ति संचय पूर्वक अत्याचारी रावण पर चढ़ाई करने के लिये प्रस्थान किया था और फल स्वरूप नीति की अनीति पर, धर्म की अधर्म पर तथा सत्य की असत्य के ऊपर एवं अध्यात्मवाद की आधार शिला पर सात्विक भाव की विजय कोरे भौतिक और विज्ञानवाद की तामस शक्ति को पराजित करके हुई थी। आज उसीकी पवित्र स्मृति में हम रावण की तमोमयी दानव-मूर्ति को जलाते हैं, रावणवध का अभिनय किया जाता है, रामलीला भारतवर्ष में स्थान स्थान पर खेली जाती है। जिसका प्रभाव, बाल वृद्ध, स्त्री पुरुष सभी पर पड़ता है। अन्यायी व अत्याचारी का नाश एक न एक दिन अवश्य होता है वह चाहे कितना ही प्रबल क्यों न हो—यह जन जन के मन में समाया हुआ है।

ज्योतिष शास्त्र की दृष्टि से इस दिन विजय का शुभ मुहूर्त्त होता है जो सम्पूर्ण कार्यों के लिये सिद्धप्रद होता है। ज्योतिर्निबन्ध में लिखा है—

आश्विनस्य सिते पक्षे दशम्यां तारकोदये।
स कालो विजयो ज्ञेयः सर्व कार्यार्थ सिद्धये॥

अर्थात् आश्विन शुक्ल पक्ष की दशमी को तारकोदय के समय 'विजय' नामक मुहूर्त्त होता है जो कि सम्पूर्ण कार्यों में सिद्धप्रद होता है। इस दिन क्षत्रिय लोग सीमा का उल्लंघन करते हैं जिससे कि प्रगति हो। भगवान् श्री रामचन्द्र जी ने श्रवण नक्षत्र से युक्त इसी पूर्णा (दशमी) तिथि में रावण-विजय के लिए प्रस्थान किया था—

श्रवणर्क्षे तु पूर्णायां काकुत्स्थः प्रस्थितो यतः।
उल्लंघेयुः सीमान्त तद्दिनर्क्षे ततोनराः॥

राजा लोग उस दिन प्रातःकाल स्नानादि नित्य कर्म से निवृत्त होकर, संकल्पपूर्वक देवताओं का तथा अस्त्र शस्त्रादिकों का भी पूजन करते हैं तथा सुसज्जित अश्व पर आरूढ़ होकर नगर के बाहर जाकर शमी वृक्ष का पूजन करते हैं। विजय और वीरता इस पर्व की विशेषता है। क्षत्रिय प्रधान शौर्य तो इसमें है ही। विजय दशमी में रामलीला में रावण वध देखने के लिये बहुत बड़ा मेला स्थान स्थान पर लगता है जो कि हमें संगठन और एकता के साथ साथ राष्ट्रीय चेतना प्रदान करता है तथा विजय और वीरता का प्रतीक है। हमें चाहिये कि इन पर्वों को उत्साह और स्फूर्ति के साथ मनावें तथा वीरता की भावना को घनीभूत और दृढ़ करके दानवता पर विजय प्राप्त करें, मानवता का साम्राज्य स्थापित करें। अपने महापुरुषों के पदचिह्नों पर चलकर देश को उन्नति के शिखर पर ले जावें। राष्ट्र में धार्मिकता के द्वारा एकता, संगठन तथा चरित्र का निर्माण होता है। जिससे अभ्युदय और निःश्रेयस दोनों की प्राप्ति होती है।

अब इसके आगे व्यापार सम्बन्धी वैश्य प्रधान पर्व दीपावली पर कुछ प्रकाश डालने की चेष्टा की जा रही है।

दीपावली

दीपावली का पावन पर्व आने पर लोग अपने अपने घरों की सफाई करने में लगे जाते हैं, व्यापारी वर्ग अपनी एक विशेष प्रकार की तैयारी में लग जाता है। दीपमालिका में लक्ष्मी पूजन का कार्यक्रम चलता है। वर्ष ऋतु में व्यापार कार्य शिथिल हो जाता है। शरद ऋतु से उत्तरोत्तर उन्नत होने लगता है और दीपावली से प्रारम्भ हो जाता है। व्यापार की स्वामिनी महालक्ष्मी हैं अतः उनकी प्रसन्नता प्राप्ति के लिये लक्ष्मी की आराधना प्रधान रहती हैं। गणेश जी बुद्धि प्रदाता हैं, मंगलकारक हैं, सिद्धिदायक हैं। इसलिये गणेश लक्ष्मी दोनों का पूजन एक साथ इस पर्व में किया जाता है।

सांसारिक व्यवहार में तो लक्ष्मी (धन) की ही प्रधानता है, उसके बिना तो काम ही चलना कठिन है। ऐसा कौन व्यक्ति है जिसे लक्ष्मी की चाह न हो ? परन्तु लक्ष्मी जाती भाग्यवान के पास ही है। मलिनता तो उसे पसंद—नहीं इसलिये उसके स्वागत के लिये लोग इस दिन सफाई पर विशेष ध्यान रखते हैं। एक बात और है—यदि ऐसे त्योहार हमारे यहां न आवें तो हम लोगों के घर की सफाई कभी हो ही न पावे। हमारे पूर्वज तथा ऋषि मुनि लोग बड़े ही बुद्धिमान् तथा दूरदर्शी थे जिन्होंने इन पर्वों तथा त्योहारों का उद्‌घाटन किया और वे लोग भी बड़े ही भाग्यशाली तथा प्रशंसा के पात्र हैं जो इस

परम्परा की आज तक रक्षा करते चले आये हैं। वर्षाकाल में जबकि सूर्य भगवान् के कभी कभी दर्शन तक नहीं होते, आकाश मेघाच्छन्न रहता है, वर्षा के कारण घरों की दुर्दशा हो जाती है, सीलन अपना प्रभाव सभी जगह जमा लेती है, दूषित कीटाणु दीमक आदि उत्पन्न होकर स्वास्थ्य, पुस्तकों तथा अन्य वस्तुओं को हानि पहुंचाने लगते हैं, गन्दगी का साम्राज्य सा छा जाता है, वायुमण्डल भी दूषित सा हो जाता है, ऐसी दशा में यदि घरों की सफाई, पोताई आदि न हो तो लोग रोगाक्रान्त हो जांय, और जहां सफाई आदि नहीं हो पाती वहां रोग उत्पन्न भी हो जाता है।

शरद ऋतु में गोबर की लिपाई से दूषित कीटाणु नष्ट हो जाते हैं। चूने की पुताई से दीवालों में ऊष्मा उत्पन्न होकर सीलन नष्ट हो जाती है, किवाड़ों के पीछे, घर के कोनों में इधर उधर छिपे हुये कीटाणु तथा एकत्रित कूड़ा हमारे स्वास्थ्य के लिये बड़ा ही हानिकारक होता है, गन्दगी तो रहती ही है—यदि दिवाली न आवे तो शायद घर के कोनों की सफाई ही न हो पावे। इसके बाद लक्ष्मी पूजन में हवन होता है—हवन के द्वारा वायुशुद्धि भी हो जाती है। इसके अतिरिक्त रात्रि को दीपावली होती है। जैसा कि इसका नाम है—दीपावली—उसी प्रकार दीप की अवली अर्थात् कतार (पंक्ति) रात को दिखाई पड़ती है। ऐसा कोई घर नहीं होता चाहे वह अमीर हो या गरीब जहां कि सफाई न होती हो तथा दिवाली में में दिया न जलाया जाता हो। रात्रि को सामूहिक रूप से जो सरसों के तेल की दियाली जलाई जाती हैं उसमें भी बड़ा ही रहस्य तथा वैज्ञानिक दृष्टिकोण से लाभ भरा पड़ा है। दीपक

परम्परा की आज तक रक्षा करते चले आये हैं। वर्षाकाल में जबकि सूर्य भगवान् के कभी कभी दर्शन तक नहीं होते, आकाश मेघाच्छन्न रहता है, वर्षा के कारण घरों की दुर्दशा हो जाती है, सीलन अपना प्रभाव सभी जगह जमा लेती है, दूषित कीटाणु दीमक आदि उत्पन्न होकर स्वास्थ्य, पुस्तकों तथा अन्य वस्तुओं को हानि पहुंचाने लगते हैं, गन्दगी का साम्राज्य सा छा जाता है, वायुमण्डल भी दूषित सा हो जाता है, ऐसी दशा में यदि घरों की सफाई, पोताई आदि न हो तो लोग रोगाक्रान्त हो जांय, और जहां सफ़ाई आदि नहीं हो पाती वहां रोग उत्पन्न भी हो जाता है।

शरद ऋतु में गोबर की लिपाई से दूषित कीटाणु नष्ट हो जाते हैं। चूने की पुताई से दीवालों में ऊष्मा उत्पन्न होकर सीलन नष्ट हो जाती है, किवाड़ों के पीछे, घर के कोनों में इधर उधर छिपे हुये कीटाणु तथा एकत्रित कूड़ा हमारे स्वास्थ्य के लिये बड़ा ही हानिकारक होता है, गन्दगी तो रहती ही है—यदि दिवाली न आवे तो शायद घर के कोनों की सफ़ाई ही न हो पावे। इसके बाद लक्ष्मी पूजन में हवन होता है—हवन के द्वारा वायुशुद्धि भी हो जाती है। इसके अतिरिक्त रात्रि को दीपावली होती है। जैसा कि इसका नाम है—दीपावली—उसी प्रकार दीप की अवली अर्थात् कतार (पंक्ति) रात को दिखाई पड़ती है। ऐसा कोई घर नहीं होता चाहे वह अमीर हो या गरीब जहां कि सफ़ाई न होती हो तथा दिवाली में में दिया न जलाया जाता हो। रात्रि को सामूहिक रूप से जो सरसों के तेल की दियाली जलाई जाती हैं उसमें भी बड़ा ही रहस्य तथा वैज्ञानिक दृष्टिकोण से लाभ भरा पड़ा है। दीपक

जलने से जो लौ जलती है, धुवां उठता है, उससे एक प्रकार की सूक्ष्म गैस बनती है और वह गैस एक साथ बनने से बड़ी ही शक्तिशाली गैस का रूप धारण कर लेती है जिससे वह आकाश में फैल कर व्याप्त हो जाती है, आकाश की दूषित वायु तथा वातावरण को शुद्ध कर देती है, विषैले, दूषित रोगोत्पादक कीटाणु उससे नष्ट हो जाते हैं। घर के कोने कोने में दीपक जलाने का भी यही रहस्य है, कि कहीं कोने तक में भी गन्दगी न रहने पाये। व्यक्तिगत लाभ होने के साथ साथ समष्टिगत व्यापक लाभ पूरे ग्राम, नगर तथा सारे देश का इससे होता है। इस स्वच्छता के पश्चात् श्री लक्ष्मी जी का पूजन रात्रि को किया जाता है।

श्री लक्ष्मी जी का आसन है कमल। दिव्य निर्मल कमल पर विराजने वाली लक्ष्मी मैले और गन्दे घर में कैसे और क्यों प्रवेश करेंगी? उनके लिये तो स्वच्छता और प्रकाश की आवश्यकता है, तभी वह प्रार्थना करने पर पधारने की कृपा करती हैं। व्यापारी लोग, बसने का पूजन, वही खाते का पूजन करते हैं—

'व्यापारे वसते लक्ष्मी'

यह तो प्रसिद्ध ही है। शुभ और लाभलिखते हैं जिसमें शुभ से गणेश, और लाभ से लक्ष्मी का बोध होता है।

इस पर्व पर शकर के खिलौने, भिन्न भिन्न रंगों की अनेक प्रकार की मिठाइयां बनाई जाती हैं। हलवाई लोग मिठाई बनाने में अपनी अपूर्व कला का प्रदर्शन इस अवसर पर करते हैं। प्रत्येक घर में मिठाई प्रायः आती है। धान की खीलें

(लावा) आती है—इसकी भी प्रथा तथा महत्त्व है। दीवाली में लोग अपने बड़े बूढ़ों के पैर छूते हैं, होली की भांति दीवाली में भी लोग कहीं कहीं मिलने जाते हैं। यह प्रेम भाव का प्रतीक है, इससे मनोमालिन्य दूर होता है। एकता और संगठन के सूत्र में बांधने वाला कर्म है। इसके मूल में बड़े लाभ हैं। ज्ञान की दृष्टि से तो हमें यह शिक्षा मिलती है कि जिस प्रकार भिन्न भिन्न रूपों वाले और तरह तरह के रंगों वाले खिलौनों में एक ही शक्कर तथा मिठास व्याप्त है, उसी प्रकार विभिन्न विचित्रता लिये हुये संसार में एक ही परमात्मा व्याप्त है। जिस प्रकार बाहरी दीपक के प्रकाश से हम घर का अन्धकार दूर करते हैं उसी प्रकार ज्ञान के दीपक से हम अपने अन्दर का अन्धकार दूर करें, कटुता, कलुष को जला दें, ग्लानि को गला दें, द्वेष को दूर करें तथा प्रेम का प्रवाह प्रसारित करें। सारे संसार में एक परमात्मा को व्याप्त देखें, सबसे अच्छा व्यवहार करें। यह हमारा आध्यात्मिक दृष्टिकोण है।

पुराणों में भी दीपावली की अनेक कथायें वर्णन की गयी हैं। यह भी कहा गया है कि रावण पर विजय प्राप्त करके भगवान श्री रामचन्द्र जी इसी दिन लंका से अयोध्या वापस आये थे। उस प्रसन्नता में भी लोगों ने दीप जलाये। इस प्रकार बहुत सी बातें इस पावनपर्व के साथ जुड़ी हुई हैं।

दीपावली में द्यूत क्रीड़ा (जुआ) की प्रथा चलती है, इसका रूप आज कल बड़ा ही विकृत हो गया है। हम वास्तविकता को भूल कर आज भटक गये हैं और कुप्रथा का रूप समाज ने ले लिया है, जुंआ खेल कर लोग अपने पैसा से तो हाथ धो ही बैठते हैं साथ ही साथ अनेक दुर्व्यसन भी आ जाते हैं। उत्तेजनी

में दुर्घटनायें भी होने लगती हैं। लड़ाई, झगड़ा, चोरी, मद्यपान, नशासेवन आदि अनेक बुराइयां इससे उत्पन्न हो जाती हैं। हम इनसे सावधान रहें और सतर्कता से इनसे बचें। दीपावली पर्व के साथ साथ गोवर्द्धन पूजा, अन्नकूट तथा भाइया दुइज आदि के त्योहार भी जुड़े हुये आगे आते हैं। जिनका कि अपने अपने स्थान पर महत्त्व है। अब होली के त्योहार का वैज्ञानिक रहस्यमय वर्णन किया जा रहा है।

होली

होली का त्योहार आने पर जन जन के मन में हर्ष और उल्लास की स्वाभाविक लहर सी दौड़ जाती है। बालक वृद्ध युवा नर नारी सभी प्रसन्न, यहां तक कि प्रकृति भी अपनी प्रसन्नता प्रकट करने के लिए पट परिवर्तन करके नवीन सज धज के साथ स्वागत करने को तैयार खड़ी हो जाती है। होली का त्योहार मनाने के लिए एक सप्ताह पूर्व से ही तैयारियां प्रारम्भ हो जाती हैं। चारों वर्ण इसमें प्रसन्न दिखाई देते हैं। वर्ग भेद भुलाकर सभी लोग समान रूप से इसमें सम्मिलित होते हैं और इस त्योहार को मनाते हैं। जन सामाम्य का सबसे बड़ा त्योहार यदि इसे कहा जाय तो भी कुछ अनुचित नहीं। फाल्गुन की पूर्णिमा को यह त्योहार होता है। उस दिन रात को शुभ मुहूर्त में होली जलाई जाती है, लोग नवान्न (अन्न की बालियां) भूनते हैं, गन्ना भी भूनते हैं—होली की परिक्रमा करते हैं। इस प्रकार सभी लोग बड़े हर्ष से होली की रात को यह उत्सव मनाते हैं। होली के गीत भी स्थान स्थान पर गाये जाते हैं। इससे सभी लोग प्रसन्न रहते हैं। होली के विषय में यह कथा प्रसिद्ध है।

भक्त प्रहलाद की कथा

प्राचीन काल में हिरण्यकशिपु नामक एक महान शक्ति-शाली राजा था जो अपनी तपस्या के वरदान से गर्वित हो अपनी भौतिक शक्ति और सत्ता के सहारे, ईश्वरीय सत्ता को नहीं स्वीकार करता था—अध्यात्मवाद का विरोधी था उसके प्रहलाद नामक एक परम भक्त पुत्र हुआ, जो सर्वदा भगवद्-गुण गान में रत, परम ज्ञानी और भक्त था। उसने अपने पिता से भगवान् की भक्ति और सर्वशक्तिमत्ता की बात की तो पिता ने उसका विरोध किया-और यहां तक कि हिरण्य-कशिपु ने अपनी बहिन को जिसे कि अग्नि में न जल सकने का वरदान प्राप्त था, आज्ञा दी कि प्रहलाद को गोद में लेकर जलती अग्नि में बैठ जाय जिससे कि प्रहलाद अग्नि में भस्म हो जाय तथा ईश्वरवादियों का सदा के लिये अन्त हो जाय और उसके प्रभुत्व की धाक जम जाय। किन्तु भगवान् की कृपा ! सांच को आंच क्या ? होलिका स्वयं ही जल गयी और भक्त प्रहलाद का बाल भी बांका न हुआ। प्रभु ने प्रहलाद को क्या बचाया—आस्तिकता को बचाया और सत्य एवं न्याय तथा भक्ति उस अग्नि की ज्वालाओं से कुन्दन की भांति तपी और चमकती हुई सारे संसार में छा गई। अन्याय एवं पाप तथा भौतिक अहंकार, सत्य स्वरूप भगवान के सहारे अपने ही ताप में जल जाते हैं यह इसका एक प्रबल प्रमाण है। इसके बाद हिरण्यकशिपु भी भगवान् नृसिंह के द्वारा मारा गया। होली जलाकर आस्तिकता के प्रमाण स्वरूप अपने इस पुण्य पर्व की स्मृति हम आज तक जागृत करते हैं।

होलिका-दहन

होली जलाने के समय जो बालियां भूनी जाती हैं उसका एक अभिप्राय यह भी है कि इस समय नवान्न पक कर तैयार हो जाता है, जन समूह उसे भून कर एक प्रकार का यज्ञ सम्पन्न करते हैं। शास्त्रों में इसका वर्णन है। होली की अग्नि लोग अपने घर ले आते हैं और उस अग्नि की घर में प्रतिष्ठा करते हैं, मातायें उसकी परिक्रमा करती हैं तथा कहीं कहीं नवान्न प्राशन का शुभ मुहूर्त भी यह माना जाता है। इस प्रकार स्त्री पुरुष सभी होली की प्रतिष्ठा करते हैं। यह भी पुराणों में कथा आई है कि होली के उत्सव से ढूंढा नामक राक्षसी से बालकों की रक्षा होती है और सुख शान्ति की प्राप्त होती है तथा राक्षसी बाधा नहीं होती।

धूलिवन्दन

इसके बाद प्रातःकाल धूलि वन्दन अथवा लौकिक भाषा में धुरेहरी नामक उत्सव होता है। सभी लोग परस्पर प्रेम पूर्वक रंग खेलते हैं, अंबीर, गुलाल एक दूसरे के मुख पर लगाते हैं—यहां तक कि इस दिन कोई भेद भाव समाज में नहीं किया जाता। बल्कि शास्त्रों में यह स्पष्ट लिखा है कि इस दिन चाण्डाल स्पर्श भी निषिद्ध नहीं है। इस प्रकार इस उत्सव में सर्व व्यापी प्रेम तथा विश्व व्यापी बन्धुत्व का प्रत्यक्ष उदाहरण हमारे यहां पाया जाता है।

होली-मिलन

इसके बाद परस्पर मिलन का कार्य होता है। लोग इस दिन सारा वैरभाव भुलाकर एक दूसरे के घर होली मिलने

जाते हैं। छोटे लोग बड़ों के पैर छूते हैं—बराबर वाले गले मिलते हैं- हृदय से हृदय मिलाते हैं इससे हार्दिक प्रेम की वृद्धि होती है-पुराना वैरभाव दूर होता है तथा विश्व—बन्धुत्व की भावना का प्रसार होता है। यह अक्षुण्य परम्परा आज तक बराबर चलती रही है। इस त्योहार में प्रायः सभी लोग नवीन वस्त्र धारण करते हैं। लोग जब एक दूसरे के घर होली मिलने जाते हैं तो घर वाले लोग बिना खिलाये पिलाये उसे जाने नहीं देते। अधिकतर लोग मिष्ठान्न-पेराकें आदि खिलाते हैं, तथा बिना पान इलायची, गरी आदि कुछ भी खिलाये, घर से जाने नहीं देते। इस समय वर्णभेद, वर्ग भेद कुछ भी नहीं रहता। कहीं कहीं मेले भी लगते हैं जहां सभी लोग एकत्र होकर परस्पर मिलते हैं। इस प्रकार यह हमारा धार्मिक, सामाजिक तथा राष्ट्रीय त्योहार है जो संसार को एकता के सूत्र में बांधता है और संगठन के साथ साथ प्रेम भाव की वृद्धि करता है। इसके अतिरिक्त इसमें कुछ वैज्ञानिक रहस्य भी है।

वैज्ञानिक रहस्य

अन्य त्योहारों की भांति इस होली के त्योहार में भी जो वैज्ञानिक रहस्य है उसका स्वास्थ्य पर प्रभाव पड़ता है। बात यह है कि फाल्गुन मास में जाड़े और गर्मी की ऋतु का संधिकाल होता है जिसमें कुछ चेचक मलेरिया आदि के दूषित कीटाणु उत्पन्न हो जाते हैं। वे सब कीटाणु अग्नि की प्रज्वलित ज्वाला की गर्मी से नष्ट हो जाते हैं। जगह जगह पर अनेक स्थानों पर जलती हुई विशाल होली की गर्मी से वायुमण्डल में गर्मी आ जाती है जो कीटाणुओं को नष्ट कर देती है। नवान्न

की आहुति वायुमण्डल को शुद्ध कर देती है। ऋतुपरिवर्तन में रंग डालने का भी प्रभाव पड़ता है। कोई कोई रंग तो स्वास्थ्य के लिये अत्यन्त हितकारी होते हैं। पलाश के पुष्प का, टेसू का रंग इसमें बहुत ही लाभदायक होता है। अंबीर और गुलाल मलने से चेचक और मलेरिया के कीटाणु नष्ट होते हैं। सिंघाड़े के आटे में बहुत से रंग बनाये जाते हैं-उससे अनेक संक्रामक रोगों से रक्षा होती है। होली के उपलों की राख का कहीं कहीं प्रयोग किया जाता है-वह भी कीटाणु नाशक है। होली के दिन ऊंचे स्वर से बोलना, गाना बजाना, नाचना कूदना, प्रसन्न होना यह सब व्यायाम की दृष्टि से भी स्वास्थ्य-वर्द्धक है। होली के समय होली की अग्नि में गन्ना भूनने की भी हमारे यहां प्रथा है। भुना हुआ गन्ना चूसने से जुकाम दूर हो जाता है। क्रीड़ा व मनोविनोद की प्रवृत्ति बसन्त ऋतु में होली के रूप में स्वयं ही फूट पड़ती है। आलस्य का नाश होता है—हर्षोल्लास की वृद्धि होती है। यह बसन्तोत्सव का वैज्ञानिक रहस्य है।

होली में मनोरंजन के लिए स्थान स्थान पर गाने बजाने की टोलियां निकलती है, कहीं कहीं पर संकीर्तन तथा झांकियां निकलती हैं। जनता परस्पर प्रेमालिंगन करती है, इस दिन छोटे बड़े का प्रश्न नहीं, शत्रु मित्र का भाव नहीं, धनी निर्धन का भेद नहीं, गर्व और ईर्षा तथा शत्रुता एवं मनमुटाव मानो होली की अग्नि में भस्म हो जाता है। विरोध मानो रंग के साथ ही बह जाता है और प्रेम भाव की नई सृष्टि होती है। परस्पर मिलने का यह क्रम एक सप्ताह तक चलता रहता है। जिससे प्रायः लोग सभी सम्बन्धियों तथा इष्ट मित्रों से मिल

लेते हैं। सप्ताह के अन्दर मिला-भेंटी कर लेना होली त्योहार के अन्तर्गत ही माना जाता है।

साथ ही साथ कुछ कुप्रथा भी समाज के अन्दर आ गई है—वह यह है कि इस दिन लोग भांग, शराब, ताड़ी आदि नशीली वस्तुओं का प्रायः प्रयोग करते हैं तथा सुन्दर गीतों के स्थान पर गन्दी गाली आदि बकते हैं और रंग के स्थान पर गोबर, कीचड़, तारकोल तथा गन्दे पदार्थ का उपयोग करते हैं-लोगों के चेहरे गहरे न छुटने वाले रंगों से रंग कर बे के ढंग से परेशान करते हैं जिससे प्रेम के स्थान पर झगड़ा भी हो जाता है। ऐसा नहीं होना चाहिए।

वास्तव में व्यवहार वही है जिससे कि प्रेम बढ़े। असभ्यता में झगड़ा हो जाता है। इसमें गन्दी गाली तथा अश्लील भाषण नहीं करना चाहिए। अशिष्ट व्यवहार इस पर्व पर एक लांछन है।

हमें इस महान त्योहार का महत्व समझना चाहिये। राष्ट्रीय, सामाजिक, तथा सांस्कृतिक एकता का प्रतीक धार्मिक रूप में आने वाला यह त्योहार सबके मन को प्रसन्न करता है। संगठन का साधन, प्रेम की वृद्धि, ईर्षा द्वेष का नाश, भेद भाव का दूरीकरण तथा पुराने मनमुटाव का नाश हो जाना इस पर्व की विशेषता है। इस प्रकार यह हमारा सर्वजनप्रिय विश्व व्यापक त्योहार है। इसमें जो दोष आ गये हैं उन्हें दूर करके हमें उच्च आदर्श की प्रतिष्ठा करनी है जिससे कि यह सिद्धान्त सफल हो—

'सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तुनिरामयाः।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चित् दुःखभाग्भवेत्' ॥

होली का हमारा यह महान त्योहार भारतीय संस्कृति की एकता का प्रतीक है। इससे हमें यह शिक्षा मिलती है कि संसार की अग्नि से सत्य कभी नहीं जल सकता। भौतिक अहंकार पर अध्यात्मवाद और भक्ति की विजय सदा होती है।

पंचदवोपासना

शास्त्रों में विष्णु, शिव, शक्ति, सूर्य और गणपति (गणेश जी) इन पंचदेवों की उपासना का वर्णन प्रमुख रूप से किया गया है। तत्त्व भी पांच हैं तथा उन पंच तत्त्वों से ही सारी सृष्टि का निर्माण हुआ है और प्रत्येक व्यक्ति में किसी न किसी तत्त्व की प्रधानता रहती है इस दृष्टि से उपासना क्रम में ऋषियों ने उसका सूक्ष्म रहस्य खोज कर रक्खा है। आकाश तत्त्व के साथ विष्णु का, वायु के साथ सूर्य का, अग्नि के साथ शक्ति का, जल के साथ गणपति का तथा पृथ्वी के साथ शिव का सम्बन्ध विशेष माना गया है। अपने अपने स्थान पर सबकी प्रधानता है। वैष्णवों में श्री राम, कृष्ण और नारायण (विष्णु), शैवों में श्री शिव जी, शक्ति में श्री दुर्गा, लक्ष्मी तथा सरस्वती जी, सौर्यों में सूर्य, तथा गाणपत्यों में गणपति अर्थात् श्री गणेश जी की उपासना की प्रधानता है। श्री दुर्गा बलदायिनी, दुर्गतिनाशिनी बल की प्रतीक, काली जी संहार-कारिणी शक्ति, श्री लक्ष्मी जी धन प्रदायिनी अर्थ की प्रतीक तथा श्री सरस्वती जी वाणी तथा विद्या की अधिष्ठात्री ज्ञान की प्रतीक कही गई हैं। सूर्य से बुद्धि को प्रेरणा मिलती है (धियो यो नः प्रचोदयात् रूप से गायत्री मंत्र द्वारा सविता देवता से नित्य प्रार्थना ही की जाती है) श्री गणेश जी विघ्न-

विनाशक मंगलकारक हैं, श्री शिव जी कल्याण स्वरूप हैं तथा श्री विष्णु भगवान् को व्यापक कहा गया है। पारमार्थिक दृष्टि से सभी एक हैं उनमें कोई भेद नहीं है। भक्ति और शक्ति तथा ज्ञान प्राप्त करना लक्ष्य है जो कि अपने अपने इष्ट देवता से सभी साधक प्राप्त करते हैं। लौकिक और पारलौकिक लाभ अपने अपने इष्ट देवता से मिल जाता है। इस विषय पर ऋषियों ने बड़ा व्यापक प्रकाश डाला है, पुराणों की रचना ही उन उन अनेक देवताओं के नाम पर हुई है जिसका वर्णन हमें वहीं मिलता है। स्थानाभाव से उस विस्तार में न जाकर यहां भगवान् राम के पारमार्थिक स्वरूप पर कुछ प्रकाश डालने की चेष्टा की जा रही है।

भगवान राम का पारमार्थिक स्वरूप

भगवान् राम का सगुण साकार रूप दिव्य तथा चिन्मय है। वे साक्षात् सच्चिदानन्द घन परमात्मा ही हैं जिनका वर्णन शास्त्रों में स्थान स्थान पर मिलता है। श्रीरामचरितमानस में भी गोस्वामी श्री तुलसीदास जी ने हिन्दी भाषा में उसी तत्त्व को बड़े सुन्दर ढंग से प्रतिपादित किया है।

श्री रामचरित मानस में कहा है—

विषय करन सुर जीव समेता।
सकल एक ते एक सचेता॥
सब कर परम प्रकाशक जोई।
राम अनादि अवध पति सोई॥

(बालकाण्ड ११६।५)

अर्थात् विषय, इन्द्रिय, उनके देवता तथा जीव ये सबके सब एक दूसरे के सहारे से सचेत हैं अर्थात् चलते हैं। और जो इन सभी का प्रकाशक है वही अनादि ब्रह्म अयोध्यापति श्रीराम जी हैं। इसका तत्त्व इस प्रकार समझिये।

विषय उनको कहते हैं जिनका इन्द्रियों द्वारा ज्ञान एवं भोग होता है। आकाश, वायु, अग्नि, जल और पृथ्वी इन पंच महाभूतों के शब्द, स्पर्श, रूप रस और गन्ध ये पांच विषय हैं और इनका ज्ञान क्रमानुसार श्रवण, त्वचा, नेत्र, जिह्वा तथा नासिका से होता है। ये ज्ञानेन्द्रियां हैं। हाथ, पैर, वाणी, गुदा एवं लिंग ये पांच कर्मेन्द्रियां हैं एवं इनका कार्य क्रम से लेना देना, चलना, वार्तालाप करना मलत्याग तथा मूत्र त्याग करना है। मन, बुद्धि, चित्त तथा अहंकार यह अन्त:करण चतुष्टय है जिसका काम क्रमानुसार संकल्प विकल्प करना, विचार करना, चिन्तन करना तथा अहंकार रखना है। यह क्रम से ज्ञानेन्द्रिय, कर्मेन्द्रिय तथा अन्त:करण का वर्णन है और इनका कार्य बतला दिया गया है। इनमें कार्य विषय हैं तथा इन्द्रियां करण हैं। अब सुर अर्थात् देवताओं का वर्णन किया जा रहा है।

प्रत्येक इन्द्रिय का एक एक देवता होता है। यथा ज्ञानेन्द्रियों में—श्रवण के देवता दिशा, त्वचा के वायु, नेत्र के सूर्य, जिह्वा के वरुण और नासिका के अश्विनीकुमार हैं। कर्मेन्द्रियों में वाणी-के अग्नि, लिंग के प्रजापति, हाथों के इन्द्र, पैर के वामन तथा गुदा के यम देवता हैं। अन्त:करण में-मन के चन्द्रमा, बुद्धि के ब्रह्मा, चित्त के विष्णु तथा अहंकार के देवता शिव

हैं। श्री रामचरित मानस में विराट स्वरूप के वर्णन में इनका निर्देश भी पाया जाता है। यथा—

भृकुटि विलास भयंकर काला
नयन दिवाकर कच घन माला।
जासु घ्रान अश्विनी कुमारा
निशि अरु दिवस निमेष अपारा।
श्रवण दिशा दस वेद बखानी
मारुत श्वास निगम निज बानी।
आनन अनल अम्बुपति जीहा
उतपति पालन प्रलय समीहा।

अहंकार शिव बुद्धि अज, मन शशि चित्त महान।
मनुज वास सचराचर रूप राम भगवान।
(लंकाकाण्ड १४, १५) तथा

चन्द्रमा मनसो जातः चक्षोः सूर्यो अजायत।
श्रोत्राद् वायुश्च प्राणश्च मुखादग्निरजायत।
(यजुर्वेद पुरुषसूक्त ३१।१२)

के इस मन्त्र में भी थोड़ा सा वर्णन है। यह विषय, करन और सुर अर्थात् देवताओं का वर्णन हुआ है। अब जीव के विषय में कहना है। जीव से परमात्मा की चेतन शक्ति की ओर निर्देश है। यथा—

ईश्वर अंश जीव अविनाशी
चेतन अमल सहज सुखरासी।
(उत्तरकाण्ड ११६।२)

अब हमें यह देखना है कि यह सब एक दूसरे से चेतन कैसे हैं। केवल एक दृष्टान्त पर ध्यान देने से सारा रहस्य समझ में आ जावेगा। उदाहरण के लिये—जैसे नेत्र इन्द्रिय है, रूप उसका विषय है तथा सूर्य उसका देवता है। अर्थात् रूप रूपी विषय को, नेत्र इन्द्रिय रूपी करन से सूर्य देवता के द्वारा देखा जाता है। रूप देखने के लिये नेत्र इन्द्रिय की आवश्यकता है तथा रूप और नेत्र दोनों के होने पर भी सूर्य देवता के प्रकाश की आवश्यकता है। बिना प्रकाश के भी रूप नहीं देखा जा सकता। क्योंकि घने अन्धकार में वस्तु सामने रहने पर, तथा नेत्र खुले रहने पर भी प्रकाश के अभाव के कारण रूप अर्थात् वस्तु का दर्शन नहीं हो सकता। इसलिए इन तीनों में से कोई एक भी नहीं होगा तो फिर रूप का ग्रहण (दर्शन) नहीं हो सकता। यदि रूप न हो तो भी (क्योंकि वस्तु के बिना देखना किसको कहा जाय और देखा क्या जाय ?)। इसलिए ये तीनों ही एक दूसरे के आधार पर आश्रित हैं। यहां एक बात विशेष ध्यान देने योग्य है वह यह कि एक इन्द्रिय से एक ही विषय ग्रहण किया जाता है, दूसरा नहीं और वह उसका निश्चित विषय है। जैसे कि नेत्रों से केवल रूप ही देखा जा सकता है। और कोई सुनना व बोलना आदि विषय नहीं हो सकता।

तात्पर्य यह है कि विषयों की आधार हैं इन्द्रियां, इन्द्रियों के आधार हैं देवता तथा इन देवताओं का भी आधार है जीव

अर्थात् चेतन शक्ति। यदि चेतन शक्ति रूपी जीव न होवे तो ये सब जड़ ही बने रहेंगे, जीव के बिना कोई भी क्रिया न हो सकेगी। अत: जीव ही इन सबका आधार है और यह जीव ही मन को आधार बनाकर अर्थात् मन के द्वारा इन्द्रियों से विषय भोग ग्रहण करता है। भोक्ता जीव ही है। इसी सिद्धान्त को भगवान् श्री कृष्णचन्द्र जी ने श्रीमद्भगवद्गीता में भी श्री मुख से स्वयं कहा है।

श्रोत्रं चक्षुः स्पर्शनं च रसनं घ्राणमेव च।
अधिष्ठाय मनश्चायं विषयानुपसेवते॥
(गीता १५।९)

अर्थात् इस शरीर में स्थित हुआ जीवात्मा ही श्रोत्र, चक्षु, त्वचा तथा रसना एवं नासिका द्वारा मन को आश्रय करके विषयों का सेवन करता है। यहां एक बात और ध्यान देने की है—वह यह कि इन्द्रियां तो केवल एक ही विषय को ग्रहण करती हैं पर मन पांचों विषयों को ग्रहण कर सकता है क्योंकि मन पांच तत्त्वों के सात्विक अंश से बना है और अन्य इन्द्रियां केवल एक ही तत्त्व से बनी हैं और वे अपने उसी एक ही तत्त्व के विषय को ग्रहण भी करती हैं जिससे कि वे बनी हैं। जैसे कि नेत्र इन्द्रिय अग्नि तत्त्व से बनी है तो वह अग्नि के विषय रूप को ही ग्रहण करेगी तथा उसका देवता भी अग्नि स्वरूप सूर्य ही होगा।

इसी प्रकार सभी इन्द्रियों के विषय में भी समझ लेना चाहिए।

अत: यहां तक के वर्णन से यह सिद्ध हुआ कि विषय इन्द्रियों से, इन्द्रियां देवताओं से तथा देवता जीव से प्रकाशित होते हैं। परन्तु इन विषयों, इन्द्रियों, देवताओं तथा जीव को भी चेतनता प्रदान करने वाला तत्त्व जो है वही राम है। सब चेतनों को प्रकाशित करने वाले तत्त्व को 'राम' कहा गया है। इसी सर्वश्रेष्ठ तत्त्व को दृष्टि में रखकर महामुनि श्री वशिष्ठ जी ने भी श्री राम जी से कहा कि—

प्रान प्रान के जीव के जिव सुख के सुख राम।
तुम्ह तजि तात सोहात गृह जिनहिं तिनहिं विधि बाम।
(अयो० २९०)

अर्थात् हे राम! आप प्राणों के भी प्राण हैं तथा जीव के भी जीव हैं अर्थात् आप जीव को भी चेतनत्व प्रदान करने वाले हैं, सुख के सुख हैं अत: आपको छोड़कर जिसे घर अच्छा लगता हो उस पर मानों विधाता ही विपरीत है यानी वह अभागा है। इसका यह भी भाव है कि यह शरीर ही जीव का घर है अत: इस शरीर रूपी जड़ घर में चेतन राम ही के द्वारा चेतनता तथा आनन्द की सत्ता है। महर्षि श्री विश्वामित्र जी ने भी इसी प्रकार—

'आनंद हू के आनंद दाता' (बालकाण्ड २१६।२) तथा
ये प्रिय सबहिं जहां लगि प्रानी (बालकाण्ड २१५।७)

कहा है। भगवती श्रुति ने भी—

'नित्यो नित्यानां चेतनश्चेतनानां'
(श्वेताश्वतरोपनिषद ६।१३)

कहकर इस मन्त्र से उसी परब्रह्म तत्त्व को 'नित्यों में नित्य तथा चेतनों में भी चेतन कहा है। इन सबका प्रकाशक जो तत्त्व है वही तत्त्व परब्रह्म स्वरूप श्री राम जी हैं। इस प्रकार वर्णन हुआ है। श्री वाल्मीकि जी ने भी--

राम स्वरूप तुम्हार, बचन अगोचर बुद्धि पर।
अविगत अकथ अपार, नेति नेति नित निगम कह।
(अयोध्या० १२६) तथा

चिदानन्द मय देह तुम्हारी
विगत विकार जान अधिकारी।
(अयो० १२६।५)

कहकर उन्हें चिदानन्द घन कहा है। भगवान श्री शंकर जी ने स्वयं--

राम सच्चिदानन्द दिनेशा।
नहिं तहं मोह निशा लवलेशा।
सहज प्रकाश रूप भगवाना।
नहिं तहं पुनि विज्ञान विहाना।
हरष बिषाद ज्ञान अज्ञाना।
जीव धर्म अहमिति अभिमाना।
राम ब्रह्म व्यापक जग जाना।
परमानन्द परेश पुराना।
(बालकाण्ड ११५।५-८)

में कहा है। इसी प्रकार विदेहराज परम ज्ञानी श्री जनक जी ने भी--

व्यापक ब्रह्म अलख अविनाशी।
चिदानन्द निर्गुण गुणराशी।
मन समेत जेहि जान न बानी।
तरकि न सकहिं सकल अनुमानी।
महिमा निगम नेति कहि कहई।
जो तिहुं काल एक रस रहई।
नयन विषय मो कहुं भयउ सो समस्त सुख मूल।
(बालकाण्ड ३४०।६-८,३४१)

में कहकर ब्रह्मतत्त्व को ही लक्ष्य किया है। इस प्रकार शरीर में पिण्ड के अन्दर जो सर्व प्रकाशक तत्व है वह तत्व परब्रह्म श्री राम जी हैं, ऐसा सिद्ध हुआ।

भगवान शंकर (श्री शिव तत्त्व)

इसी प्रकार अब भगवान् शंकर के विषय में कुछ थोड़ा सा प्रकाश डालने की चेष्टा की जाती है। भगवान् शंकर का वेष भी बड़ा विचित्र है। जिनके कण्ठ में कालकूट, शीश पर मन्दाकिनी, भाल पर चन्द्रमा, गले में मुण्डमाल, शरीर पर भस्म है, नागों का शृंगार है, व्याघ्र का चर्म है, ऐसे विलक्षण एक दूसरे के विपरीत उपकरणों से युक्त त्रिनेत्रधारी भगवान् शंकर जो कि महाकाल के साथ साथ आशुतोष और अवढर दानी भी हैं, त्रिताप नाशने के लिए जिन्होंने हाथों में त्रिशूल

धारण किया है ऐसे भगवान् शंकर की आराधना सनातन धर्म में बड़ी श्रद्धा के साथ की जाती है।

भगवान् शंकर का वर्णन यजुर्वेद में--

'नमः शम्भवाय च मयोभवाय च नमः शंकराय च।
मयस्कराय च नमः शिवाय च शिवतराय च।

(यजु० १६।४१)

इस प्रकार किया गया है, वे संहार के अधिष्ठाता होते हुए भी कल्याण स्वरूप हैं। उनका नाम ही है 'शं' (कल्याण) कर। भगवान् शंकर की महिमा अन्य पुराणों में तो कही ही गई है शिव पुराण में प्रधान रूप से उनका वर्णन किया गया है। पुराणों के अतिरिक्त उपनिषदों में भी भगवान् शंकर का वर्णन स्थान स्थान पर बहुत मिलता है। सगुण साकार मूर्ति-स्वरूप होते हुए भी वह निर्गुण निराकार अमूर्त हैं। वे सर्व ओर से मुख, शिर और ग्रीवा वाले हैं, समस्त प्राणियों की हृदय गुहा में निवास करते हैं सर्वव्यापी हैं इसलिए वह 'शिव' हैं-

सर्वानन शिरोग्रीवः सर्वभूत गुहाशयः।
सर्वव्यापी स भगवांस्तस्मात् सर्वगतः शिवः।'

(श्वेता० ३।११)

वह शिवस्वरूप परमात्मा सूक्ष्मातिसूक्ष्म हैं, विश्व के सृष्टा, अनेक रूप तथा समस्त जगत को परिवेष्टित किये हुए हैं, उसे जानकर मनुष्य अत्यन्त शान्ति को प्राप्त करता है—

'ज्ञात्वा शिवं शान्तिमत्यन्तमेति'

उस शिव को जानकर मृत्यु के पाश को छेदन कर देता है।

कैवल्योपनिषद् में कहा गया है कि योगी लोग अपने हृदय कमल में रजोगुण से रहित जो विशुद्ध परमतत्व है जिसका आदि, मध्य और अन्त नहीं जो अमृत स्वरूप हैं उन उमा सहित परमेश्वर को, त्रिलोचन, नीलकण्ठ, महादेव को, जो सर्व साक्षी हैं उन्हें मुनिगण ध्यान द्वारा प्राप्त करते हैं।

उमा सहायं परमेश्वरं विभुं
तिलोचनं नीलकण्ठं प्रशान्तम्।
ध्यात्वामुनिर्गच्छति भूतयोनिं
समस्त साक्षि तमसः परस्तात्। (कैव० ७)

इस प्रकार वेदान्त प्रतिपाद्य परम शिव तत्व की हम आराधना करते हैं। सगुण साकार के रूप में वही भगवान् शंकर गंगाधर, तथा लसद्भाल बालेन्दु कण्ठे भुजंगा एवं कर्पूर गौरं करुणावतारं के रूप में हैं।

'करालं महाकाल कालं कृपालं

के साथ साथ आशुतोष और अवढर दानी तथा भोला भी वह हैं। उनका विचित्र वेष तथा विचित्र बात प्रसिद्ध है। उन्होंने कण्ठ के कालकूट की गरमी शान्त रखने के लिये भागीरथी को शिर पर धारण किया तथा नागों के विष से बचने के लिए मस्तक को सुधांशु से सुशोभित किया।

एक बार किसी ने कहा कि भगवान् शंकर के मस्तक पर जो यह अमृतमय चन्द्रमा है वह सारे दोषों की शांति करता है तब सर्पादि अन्य उपकरणों से उनका क्या बिगड़ सकता है? और वह तो बड़े ही दयालु हैं। तो उस पर एक कवि ने कितना अच्छा लिखा है कि—

नित भांग धतूर को भोजन तामसी,
तामे मिल्यो विष हू अजसी।
माल मिल्यो नर मुण्डन को,
तेहि पै कछू मादकता निवसी।
अहि कारे करैं फुफकारें सदा,
हरि होहिं दयालु कहां लौं जसी।
जहां एते मिले उन्हें औगुनी हैं,
तहां का करै ? एक द्वितीया शशी।

इस प्रकार भक्तों का विनोद है। वे भगवान् शंकर भोले इतने हैं कि भस्मासुर को वरदान दे डालते हैं और भक्त इतने हैं कि सीता का रूप धारण करने पर सती का परित्याग कर देते हैं। इनकी आराधना में जब रावण स्तुति करता था तो ये 'ताण्डव नृत्य' करने लगते थे। रावण-कृत 'शिवताण्डव स्तोत्र' आज भी भक्तों को कण्ठस्थ है। उनकी महिमा अपार है। पुष्पदन्ताचार्य जी ने लिखा है कि-हे प्रभो! पर्वतराज हिमालय जैसी मात्रा में कज्जल (रोशनाई) हो, उसे समुद्र में घोला जाय, कल्पवृक्ष की कलम से पृथ्वी के पत्र पर यदि शारदा जी सर्वकाल लिखा करें, तो भी हे प्रभो! आपके गुण गणों का गान नहीं हो सकता, उसका पार नहीं पाया जा सकता।

भगवान् शंकर दयालु इतने हैं कि समुद्र मन्थन के समय चौदह रत्नों के साथ-साथ जब विष भी निकला तब उससे सारे लोग जलने लगे। लक्ष्मी, कौस्तुभमणि, ऐरावत हाथी आदि को तो सब लोग दौड़ दौड़कर ले गये परन्तु उस विषको

ओर किसी ने दृष्टि तक न की, अपितु उससे सुर और असुर सभी व्याकुल होने लगे तब भगवान् शंकर ने उस विष को कण्ठ में धारण कर लिया। इसी पर तो गोस्वामी श्री तुलसीदास जी ने श्री रामचरितमानस में लिखा है कि--

जरत सकल सुरवृन्द विषम गरल जेहि पान किय।
तेहि न भजेसि मतिमन्द, को कृपालु शंकर सरिस।।

उन्होंने गरल को गले में गला दिया, पेट के नीचे नहीं उतारा। इससे हमें यह शिक्षा लेनी चाहिये कि विष न तो अन्दर रखना चाहिए न बाहर, जितने दोष हैं वे भी विष के समान हैं। भगवान् शंकर के विषपान से उनका कण्ठ नीला पड़ गया और इसीसे वे नीलकण्ठ कहलाये। उनका नीलकण्ठ होना भी दूषण नहीं बल्कि एक भूषण बन गया।

श्री शिव जी का परिवार भी यदि देखा जाय तो बड़ा ही विचित्र है। अर्द्धांग में श्री पार्वती जी विराजमान हैं, गोद में गजमुख गणेश तथा षट्मुख कार्तिकेय बैठे हैं। एक विद्यावारिधि बुद्धि विधाता हैं तो दूसरे महा पराक्रमी वीर, जिन्होंने तारकासुर का समरांगण में वध किया। यह परिवार काम विजेता भगवान् शंकर का है। और भी देखिये-शिव जी के गले में सांप हैं, उनका बाहन बैल है, पार्वती जी का बाहन सिंह है, गणेश जी का मूषक है तो कार्तिकेय जी का मोर। चूहे का शत्रु सांप है और सांप का मोर। बैल का बैरी बाघ (सिंह) है ही। परन्तु भगवान् शंकर की महिमा और विशेषता है कि वहां शेर और भेड़ के समान विरोधी तत्त्व एक ही स्थान पर हैं।

श्री शंकर जी के गले में एक ओर सांपों का विष है तो दूसरी ओर अमृतमय चन्द्रमा, शिर पर गंगा की धारा है तो मस्तक पर तीसरे नेत्र से ज्वाला धधक रही है। इस प्रकार विष और अमृत, आग और पानी सभी विपरीत बातें एक स्थान पर हैं। उन्होंने सबका समन्वय और निर्वाह किया, उनकी इस विशेषता से हमें शिक्षा लेनी है। स्वयं शरीर पर भभूत धारण किये हुए हैं परन्तु संसार को विभूति प्रदान करते हैं। ऐसे भगवान् शंकर की कृपा यदि प्राप्त न की तो फिर क्या किया ?

भगवान् शंकर का रुद्राभिषेक, शिवार्चन भी किया जाता है तथा घट की अखण्ड धारा भी छोड़ी जाती है, इसमें भी बड़ा रहस्य है। वह यह है कि शिव लिंग ऐसे पत्थर का होता है जिस पर अनेक सामग्री युक्त जल पड़ने से तत् शक्ति समन्वित होकर धीरे धीरे वह एक स्थान पर एकत्र होता है जिससे उसमें घनीभूत एक अपूर्व शक्ति उत्पन्न हो जाती है जो कि मार्जन तथा चरणामृत के रूप में लेने से शरीर के रोगों का शमन करती है, वह ऐन्टीसेप्टिक (कीटाणुनाशक) होती है तथा अन्त:करण को पवित्र करती है। इसी प्रकार देवी देवताओं के नीर को भी लोग अपने नेत्रों पर लगाते हैं तथा अपने शरीर पर छिड़कते हैं जिससे लाभ होता है। शीतला देवी के (चेचक) प्रकोप के समय नेत्रों में देवी जी का नीर लगाना तथा उससे मार्जन करना लोक में प्रसिद्ध तथा प्रचलित है जिसमें यह सब लाभ वैज्ञानिक दृष्टिकोण से छिपे हुये हैं। यह सब देवी देवता तथा श्री शिव जी की आराधना का तत्त्व है।

फाल्गुन कृष्ण चतुर्दशी को महाशिवरात्रि के पर्व पर इन्हीं भगवान् शंकर की कृपा प्राप्त करने के लिए भक्त रात भर

जागरण करते हैं। हम भी भगवान् शंकर चन्द्रचूड़ के चरणार-विन्दों में कुछ शब्द सुमन समर्पित करते हुये शत शत बार बार प्रणाम करते हैं और इस प्रकरण को समाप्त करके आगे परलोक तथा पुनर्जन्म के ऊपर प्रकाश डालने की चेष्टा कर रहे हैं।

परलोक और पुनर्जन्म

हमारे यहां सनातन धर्म में आत्मा अजर, अमर, नित्य, अव्यय तथा अविनाशी मानी गई है। वह न तो मरती है और न नष्ट होती है। शरीर नष्ट होता है। जब तक मनुष्य को मुक्ति नहीं मिल जाती, भगवत् प्राप्ति नहीं हो जाती तब तक उसे जन्म मरण के चक्कर से छुटकारा नहीं मिलता। साधना करते करते अनेक जन्मों में 'ततो याति परां गतिम्' अर्थात् परमगति की प्राप्ति होती है। और अगर साधना न की तथा मानव-जन्म यूं ही भोगों में बिता दिया तो फिर पुनरपि जननम् पुनरपि मरणम् की श्रृंखला में बंधना पड़ता है।

जन्म मरण स्थूल शरीर का होता है। सूक्ष्म और कारण शरीर जिसमें कि जन्म जन्मान्तर के संस्कार संचित रहते हैं वह तब तक नष्ट नहीं होता जब तक भोग-समाप्ति होकर भगवत् प्राप्ति या परमगति-मुक्ति नहीं मिल जाती। यह सूक्ष्म और कारण शरीर बड़ा विलक्षण होता है। परलोक की यातना, नरक की यन्त्रणा से न तो यह नष्ट होता है और न स्वर्ग के सुखोपभोग से विकार को प्राप्त होता है। यह इतना विलक्षण होता है कि एक छोटी सी चींटी या कीटाणु में भी वह रहता है तथा बड़े से बड़े हाथी तक में भी वही रहता है उसका

परिवर्तन नहीं होता। सुख और दुख इसीके माध्यम से जीव को भोगने पड़ते हैं। शुभ कर्म करने से पुण्यमय स्वर्गादि लोकों की प्राप्ति होती है जहां नाना प्रकार के दुःख और यन्त्रणा सहनी पड़ती है। इस प्रकार अनेक लोकों का वर्णन शास्त्रों में आता है। मानवयोनि में मनुष्य कर्म करने में स्वतन्त्र है इसलिये इसे 'साधन धाम मोक्ष कर द्वारा' कहा गया है। इस मनुष्य योनि में व्यक्ति साधन द्वारा अपना कल्याण कर सकता है अन्यथा जन्म मरण का चक्कर छूटता नहीं। इस प्रकार परलोक और पुनर्जन्म का वर्णन सनातन शास्त्रों में बहुत जगह किया गया है। कठोपनिषद् में भी कहा है—

न साम्परायः प्रतिभाति बालं प्रमाद्यन्तं वित्तमोहेन मूढम्।
अयं लोको नास्ति पर इति मानी पुनः पुनर्वशमापद्यते मे॥
(कठो० १।२।६)

यम नचिकेता से कहते हैं कि धन के मोह से मोहित, प्रमादी, अज्ञानी को परलोक नहीं प्रतिभासित होता, वह समझता है कि यही लोक है परलोक नहीं है-ऐसा मानने वाला पुरुष बारंबार मेरे वश को प्राप्त होता है।

श्राद्ध

इस परलोक और पुनर्जन्म के आधार पर शास्त्रों में मृतक श्राद्ध की भी महिमा कही गयी है जिसे हम लोग आश्विन कृष्ण पक्ष में करते हैं। वह पक्ष पितृपक्ष कहलाता है जिसमें नित्य तथा नैमित्तिक पितरों का श्राद्ध तर्पण किया जाता है और उसके निमित्त ब्राह्मण भोजन भी कराया जाता है। जिस लोक में और जहां जिन पितरों का निवास होता है उस लोक में वहीं वेद मन्त्रों के द्वारा श्राद्ध कर्म से पितरों की तृप्ति होती

है, इसमें कोई संशय नहीं। इसके अनेक दृष्टान्त तथा प्रमाण हमारे शास्त्रों में भरे पड़े हैं।

पितृलोक में किस प्रकार और कैसे तृप्ति होती है—यह विषय भी बड़ा ही रहस्यमय है। इसके विषय में हम एक छोटा सा दृष्टान्त दे रहे हैं। जिस प्रकार हम मनीआर्डर करते हैं तो यहां पोस्ट आफिस में हम रुपिया नोट आदि देते हैं तथा साथ में मनीआर्डर फीस भी दे देते हैं परन्तु जब वह विदेश में इंगलैण्ड अमरीका आदि में जाता है तो वहां वह उस पाने वाले व्यक्ति को (वही नोट तथा वही रुपिया जो यहां दिया था, नहीं मिलता बल्कि) उस देश की मुद्रा में जो वहां चलती है पौण्ड अथवा डालर आदि के रूप में मिल जाता है। इसी प्रकार पोस्ट मास्टर रूपी ब्राह्मण के माध्यम से वेदमन्त्रों के द्वारा हमारे श्राद्ध की वस्तु पितरों को प्राप्त हो जाती है।

श्राद्ध में ब्राह्मण भोजन के समय पितरों का वर्णन भी पुराणों में आया है।

पद्म पुराण सृष्टि खण्ड ३३ वें अध्याय में कथा आई है कि बनवास के समय पुष्कर क्षेत्र में एक बार महाराज दशरथ का श्राद्ध समय उपस्थित हुआ। उस दिन वनवासी ब्राह्मणों को भोजन के लिये निमन्त्रित किया गया। श्राद्ध के दिन जब ब्राह्मण भोजन के लिये आये तो भोजन करते समय उन्हें देख श्री सीता जी छिप गईं। उस समय भगवान् राम ने पूछा कि सीते! इस समय तुम छिप क्यों गईं? तो श्री सीता जी ने कहा कि हे राघव! मैंने भोजन करते हुये ब्राह्मणों के अंगों में आपके पिता जी को देखा, इसलिये लज्जा के कारण मैं हट कर छिप गई—

पिता तव मया दृष्टो ब्राह्मणांगेषु राघव ।
दृष्ट्वा तपान्विता चाहमपक्रान्ता तवान्तिकात् ॥

तथा और भी कारण है कि—

याऽहं राज्ञा पुरादृष्टा सर्वालंकारभूषिता ।
सा स्वेद मल दग्धांगी कथं पश्यामि भूमिपम् ॥

अर्थात् जिस समय मेरा विवाह हुआ था तब पिता जी ने मुझे सर्वालंकार विभूषित देखा था तब हर्ष से फूले नहीं समाते थे । अयोध्या से जब मैं वन को चली तो वे मेरे तपस्विनी वेष को देखकर बड़े दुखी हुये थे और उन्होंने शरीर भी त्याग दिया था--यहां मुझे सन्देह हुआ कि इस समय वन में मुझे इस मलिन अवस्था में देखकर कहीं ऐसा न हो कि वे दुःखी होकर अपने उस पितृ शरीर को भी न छोड़ दें । दूसरे यह भी है कि इस समय जो भोजन श्राद्ध में था वह ऐसा था जिसे कभी महाराज के सेवकों ने भी नहीं खाया होगा, उसे मैं अपने श्वसुर को कैसे परोसती ? उन्हें देखकर मैं लज्जा और दुःख के मारे आपके पास से हट गई, भला मैं स्वर्गीय महाराज के सामने कैसे खड़ी होती ? यही इसका कारण था ।

बाल्मीकि रामायण अयोध्याकाण्ड (१०२।२८-३०) में भी श्राद्ध का वर्णन आया है । वहां पर लिखा है कि—श्री रामचन्द्र जी ने भाइयों सहित मंदाकिनी के तट से ऊपर आकर पिता को पिण्डदान किया । श्री राम जी ने वेर मिले हुये इंगुदी के फलों का पिण्ड बनाकर कुशाओं के ऊपर रखकर अत्यन्त दुखी होकर रोते हुये कहा कि हे महाराज ! आजकल हम लोग जो

खाते हैं वही इस समय आप भी भोजन कीजिये क्योंकि मनुष्य जो स्वयं खाता है उसीसे वह अपने देवताओं को भी सन्तुष्ट करता है। इस प्रकार भगवान् राम के द्वारा पिता के श्राद्ध कर्म का वर्णन है। वेदों में भी श्राद्धकर्म का प्रतिपादन हुआ है। यथा—

ये निखाता ये परोप्ता ये दग्धा ये चोद्धिताः।
सर्वांस्तानग्न आवह पितॄन् हविषे अत्तये॥

(अथर्ववेद १८।२।३४)

अर्थात् जिन पितरों के शरीर पृथ्वी में गाड़े गये हैं या छोड़ दिये हैं या अग्नि में जला दिये गये हैं और वे ऊर्ध्व स्वर्गादि लोक को चले गये हैं, हे अग्ने! हमारे उन सब पितरों को श्राद्ध के समय भोजन के लिये आवाहन करो। इस प्रकार बहुत सा वर्णन आया है, विस्तारभय से यहां सूत्र रूप से ही थोड़ा सा वर्णन किया गया है।

अब इसके पश्चात् यज्ञ के सम्बन्ध में कुछ लिखा जा रहा है। जो कि सनातन धर्म का एक प्रमुख अंग है।

यज्ञ तथा उसकी महिमा और लाभ

हमारे यहां शास्त्रों में यज्ञ की भी बहुत बड़ी महिमा कही गई है। यज्ञ भगवान् का स्वरूप है।

'यज्ञो वै विष्णुः'

यज्ञ से सारी मनोकामनायें पूर्ण होती हैं। भगवान् राम, लक्ष्मण, भरत तथा शत्रुहन के प्रादुर्भाव के अनेक कारणों में से एक कारण यज्ञ भी था—

'शृंगी-ऋषिहि वशिष्ठ बोलावा।
पुत्र काम शुभ यज्ञ करावा॥'

ऋषि लोग यज्ञ किया करते थे, यज्ञ से सारे संसार का कल्याण होता है। अग्नि में जो आहुति डाली जाती है, वह सूर्य को प्राप्त होती है, सूर्य से वृष्टि होती है, वृष्टि से अन्न तथा अन्न से प्रजा की उत्पत्ति होती है—यह मनु जी का वचन है—

'अग्नौ प्रास्ताहुतिः सम्यक् आदित्यं समुतिष्ठति।
आदित्याज्जायते वृष्टिः ततो अन्नं ततः प्रजा॥'

यह क्रम है। इसके अतिरिक्त श्री मद्भगवद् गीता में कहा गया है कि प्रजापति ब्रह्मा ने कल्प के आदि में यज्ञ के सहित प्रजा की रचना की और कहा कि इस यज्ञ के द्वारा तुम सब लोग वृद्धि को प्राप्त होवो और यह यज्ञ तुम लोगों की इच्छित कामनाओं को देने वाला होवे तथा तुम लोग इस यज्ञ के द्वारा देवताओं की उन्नति करो और वे देवता लोग तुम्हारी सबकी उन्नति करें। इस प्रकार आपस में कर्त्तव्य समझ कर उन्नति करते हुये तुम सब कल्याण को प्राप्त होवोगे।

इसके अतिरिक्त परमात्मा की यज्ञ में प्रतिष्ठा है-भगवान् के ही वचनों में देखें, उन्होंने कहा है कि सम्पूर्ण प्राणी अन्न से उत्पन्न होते हैं और अन्न की उत्पत्ति वृष्टि से होती है और वृष्टि यज्ञ से होती है और वह यज्ञ कर्मों से उत्पन्न होने वाला है तथा वह कर्म वेद से उत्पन्न होने वाला है, वेद अवि-नाशी परमात्मा से उत्पन्न हुआ है, इस प्रकार सर्वव्यापी

परम अक्षर परब्रह्म परमात्मा सदा ही यज्ञ में प्रतिष्ठित है। (गीता ३।१४-१५)

इस प्रकार यह सिद्ध हुआ कि यज्ञ करना परमात्मा में प्रतिष्ठित होना है। यज्ञ के द्वारा अपना तो कल्याण होता ही है—साथ ही साथ सारे संसार का भी कल्याण होता है, सात्विक भाव की वृद्धि होती है, धर्म भावना के सहित लौकिक तथा पारलौकिक, सांसारिक तथा पारमार्थिक दोनों ही लाभ होते हैं। यज्ञों में सन्त महात्माओं, ऋषियों तथा कर्मकाण्डी ब्राह्मणों एवं विद्वान् भक्तों का आगमन होता है जिसके सहारे भगवद्-भक्ति का प्रादुर्भाव तथा सत्संग का शुभ अवसर प्राप्त होता है। मानव जन्म कैसे सफल हो, हमारा क्या कर्तव्य है, कल्याण का क्या मार्ग है, हम अपने जीवन को कैसे सफल बनायें—यह सब प्रश्न हल होते हैं। आध्यात्मिक जिज्ञासा का समाधान होता है।

धन का सदुपयोग अच्छे काम में होने से अर्थ सार्थक हो जाता है, देखने वालों के हृदय में भी सात्विक भावना तथा भगवद्भक्ति का प्रादुर्भाव होता है। इतने दिनों तक जीवन में संयम रहता है। इन्द्रिय, मन, बुद्धि का झुकाव परमात्मा की ओर रहता है। धार्मिक भावना से ओतप्रोत रह कर मन बुद्धि की शुद्धि होती है और वह कल्याण की ओर अग्रसर होता है। यज्ञ मानव जीवन का अंग है बल्कि यह जीवन ही यज्ञ मय माना गया है। मनुष्य भी हाथ रूपी स्रुवा से अन्न रूपी कौर (ग्रास) जो हवि रूप है उसे वैश्वानर रूपी अग्नि में हवन करता है जिससे आत्मा रूपी परमात्मा की तृप्ति होती है—यह हमारे नित्य भोजन करने का यज्ञ है। बल्कि इसी हेतु से, यज्ञ भावना

से ही भोजन करना चाहिये-भोजन बनाना चाहिये—भगवान् कहते हैं कि यज्ञ से शेष बचे हुये अन्न को खाने वाले श्रेष्ठ पुरुष सारे पापों से छूट जाते हैं और जो लोग केवल अपने शरीर--पोषण के लिये ही पकाते हैं, वे तो पाप को ही खाते हैं। (गीता ३।१३)

यज्ञ भारतीय संस्कृति की आधारशिला है, एक जीवन व्यापी दैनिक कार्य है। गीता के अठारहवें अध्याय में जहां त्याग का प्रश्न उठाया गया है वहां पर यह भी एक प्रश्न आया कि कोई कोई विद्वान् कहते हैं कि सभी कर्म दोषयुक्त हैं इस लिये सभी कर्म त्यागने योग्य हैं और कोई दूसरे विद्वान् कहते हैं कि यज्ञ, दान और तप रूप कर्म त्यागने योग्य नहीं हैं। इस पर भगवान् ने अपना स्पष्ट निर्णय दिया है और कहा है कि-

'यज्ञ दान तपः कर्म न त्याज्यं कार्यमेव तत् ।
यज्ञो दानं तपश्चैव पावनानि मनीषिणाम् ।।'
(गीता १८।५)

अर्थात् हे अर्जुन ! यज्ञ दान और तप रूप कर्म त्यागने के योग्य नहीं है किन्तु उन्हें निस्सन्देह करना ही कर्त्तव्य है, क्योंकि यज्ञ दान और तप यह तीनों ही मनीषियों को पवित्र करने वाले हैं। इसके अतिरिक्त यह भी कह दिया कि हे पार्थ ! यह यज्ञ, दान और तप रूप कर्म तथा और भी सम्पूर्ण श्रेष्ठ कर्म आसक्ति तथा फल को त्याग कर अवश्य ही करना चाहिये, ऐसा मेरा निश्चित और उत्तम मत है। इस प्रकार भगवान् ने यज्ञ, दान और तप अवश्य करने में अपना स्पष्ट निर्णय दिया है।

यज्ञ के कितने रूप हैं, कितने प्रकार हैं—इन सबका बड़ा ही विस्तृत विवेचन है। मनुष्य चाहे तो अपने जीवन की सारी क्रियायें यज्ञ रूप बना सकता है—उसका जीवन ही यज्ञमय हो जाय। यह तो व्यक्तिगत जीवन की बात है। और जो यह श्रीरुद्रमहायज्ञ, श्री वैष्णव महायज्ञ आदि होते हैं उनसे जनता का भी कल्याण होता है, दर्शन करने वालों को भी पुण्य होता है। यज्ञ कर्त्ता के साथ साथ अनेक व्यक्तियों का कल्याण हो जाता है तथा समष्टिगत व्यापक लाभ होता है और समाज पर तथा देश पर भी उसका प्रभाव पड़ता है।

वैज्ञानिक दृष्टिकोण

वैज्ञानिक दृष्टि से यज्ञ के द्वारा वायुमण्डल का शोधन होता है। यज्ञ की हवन सामग्री में ऐसी ऐसी वस्तुयें होती हैं जिसके धूम्र से स्वास्थ्य को बहुत लाभ होता है। घी खाने से व्यक्ति को जितना लाभ होता है उससे कई गुना लाभ उतने घी से हवन करने में होता है। हवन करने में उसकी सूक्ष्म गैस वायुमण्डल में व्याप्त होकर बहुत से लोगों का, अगणित व्यक्तियों का कल्याण करेगी।

एक बार इस विषय में डाक्टर, वैद्य तथा वैज्ञानिक की सम्मति ली गई तो डाक्टर ने कहा कि नारियल के धुयें से रोग के कीटाणुओं का नाश होता है। वैद्य ने कहा कि घी और शकर को आग पर डालने से जो धुआं उठता है उससे बहुत सी बीमारियां दूर हो जाती हैं वैज्ञानिक डाक्टर ने तपेदिक (टी० बी०) रोग की औषधि के लिये सेनोटोरियम की राय दी कि जहां चीड़ अथवा धूप के वृक्ष हों वहां उसके समूह के

बीच यदि सेनोटोरियम बनाया जाय तो उससे बड़ा लाभ होगा, बल्कि यदि धूप की लकड़ी जलायी जाय तो उसके धुयें से बहुत बड़ा फ़ायदा होगा।

यज्ञ शिष्टाशिनः सन्तो मुच्यन्ते सर्वकिल्विषैः।
भुञ्जते ते त्वघं पापा ये पचन्त्यात्मकारणात्॥
(गीता ३।१३)

इस प्रकार डाक्टर ने नारियल, वैद्य ने घी शकर, वैज्ञानिक डाक्टर ने सेनोटोरियम में धूप की लकड़ी का महत्त्व बतलाया। यह सब वस्तुयें स्वास्थ्य के लिये लाभदायक तथा रोगनाशक हैं। और यह सभी सामग्री यज्ञ में हवन की जाती हैं। अतः डाक्टर, वैद्य तथा वैज्ञानिक तीनों की दृष्टि से यज्ञ का लाभ प्रमाणित है। धार्मिक दृष्टि से देवता की प्रसन्नता तथा आध्यात्मिक लाभ तो होता ही है।

इसके अतिरिक्त यज्ञ की परिक्रमा में १०८ बार या श्रद्धा सामर्थ्यानुसार कुछ संख्या का भी बन्धन रक्खा गया है। जिसका भाव यह है कि इतनी देर ही में यज्ञ-सामग्री की सुगन्ध से, उसके धूम्र से न मालूम कितना लाभ हो जाय। उस स्थान का वातावरण शुद्ध तथा रोगनाशक होने के कारण स्वास्थ्यप्रद तथा कीटाणुनाशक-शक्ति का केन्द्र बन जाता है। साथ ही यज्ञ की परिक्रमा करते समय जैसे जैसे संख्या बढ़ती जाती है उसी प्रकार परिक्रमा करने वाले की श्वास की गति भी बढ़ती जाती है तथा परिक्रमा के परिश्रम से रक्ताभिसरण की क्रिया भी तेज पड़ने लगती है, यज्ञस्थल की गरमी के प्रभाव से शरीर में उष्णता का भी प्रादुर्भाव हो जाता है, अतः ऐसी

स्थिति में जो यज्ञ का धुवां नासिका के द्वारा पहुंचता है वह श्वांस की तीव्र गति से फेफड़े पर बहुत बड़ा प्रभाव डालता है जिससे बहुत बड़ी बड़ी (टी० बी० आदि) बीमारियों के कीटाणु नष्ट हो जाते हैं, रक्त पर उसका प्रभाव पड़ने से रक्त विकार (चर्म रोग) कुष्ठ आदि भी दूर हो जाता है तथा स्वास्थ्य और आरोग्य प्रदान करता है।

आधिदैविक दृष्टि से यज्ञाधिष्ठात्री देवता प्रसन्न होता और आशीर्वाद प्रदान करता है तथा सकाम भाव से मनो-कामना की पूर्ति होती है। वेद मन्त्रों में तो बहुत बड़ी शक्ति होती है।

यहां तक कि जब बड़ी बड़ी विपत्तियां आयीं और उसका निवारण मनुष्य सामर्थ्य के बाहर हुआ तब ऋषियों ने, राजाओं ने, यज्ञ के द्वारा ही उस आपत्ति का निवारण किया। हां यह बात अवश्य है कि यज्ञ विधि विधान से होना चाहिये। अश्रद्धा से होमा हुआ हवन, दिया हुआ दान, तपा हुआ तप तथा किया हुआ कर्म असत् कहा गया है। वह न तो इस लोक में लाभदायक है और न मरने के बाद परलोक में ही। अतः श्रद्धा के साथ साथ शास्त्रोक्त विधि से कर्म करना चाहिये। हमें यज्ञ की महिमा, महत्त्व, प्रकार तथा विधि जाननी चाहिये तथा यज्ञ से लाभ उठाना चाहिये। अपनी सामर्थ्य, शक्ति, अधिकार और योग्यता के अनुसार यज्ञ कार्य सम्पादन करना चाहिये। उससे हमारा तथा सबका लौकिक कल्याण तो होगा ही साथ ही साथ भगवत् कृपा से ज्ञान की प्राप्ति होगी और उस ज्ञान से परमात्मा की प्राप्ति भी हो जायगी। कर्मों का बन्धन समाप्त हो जायगा।

'सर्वं कर्माखिलं पार्थ ज्ञाने परिसमाप्यते।'

और इस प्रकार हमारा जीवन सफल हो जायगा।

कहा जा चुका है कि यह हमारा जीवन ही एक यज्ञ स्वरूप है तथा पंचमहायज्ञ तो हमारी दैनिक क्रियाओं के अन्तर्गत ही आ जाते हैं इसके अतिरिक्त बड़े बड़े यज्ञों का अनुष्ठान भी होता है जो कि विशेष कर तीर्थ स्थानों में किये जाते हैं। प्रयाग का नाम ही सूचित करता है कि यहां प्रकर्षेण प्रकारेण यज्ञ यागादि हुये हैं तथा प्रयाग तीर्थराज के नाम से प्रसिद्ध भी है। इस दृष्टि से तीर्थों का भी बड़ा महत्त्व है अतः अगले प्रकरण में तीर्थों के सम्बन्ध में कुछ प्रकाश डाला जा रहा है।

तीर्थ

तीर्थों में महात्मा तथा सन्तों का निवास होता है, धार्मिक-कृत्य होने के कारण वहां का वातावरण बड़ा पवित्र होता है। वह धर्म भूमि तथा तपो भूमि होती है। शहरी दूषित वायु, मशीनरी का दूषित धुआं वहां नहीं होता बल्कि यज्ञ से सुगंधित, रोगनाशक, परम निर्मल वायु वहां होती है। प्रकृति की स्वाभाविक छटा आपको वहां देखने को मिलती है। नैमिषारण्य तथा ऋषिकेश आदि तीर्थ इसके प्रत्यक्ष प्रमाण हैं, जहां की नैसर्गिक छटा आज भी अपनी ओर आकर्षित करती है। तीर्थों में दान पुण्य की धार्मिक भावना जागृत होती है, दूषित भावना तथा पाप की प्रवृत्ति का नाश होता है। तीर्थों में लोग जाते भी इसी उद्देश्य से हैं कि वहां कुछ धर्म कर्म करके पुण्य अर्जन किया जाय।

सत्संग आदि के कारण मनुष्य को वहां परमार्थ तथा अध्यात्म की शिक्षा प्राप्त होती है जिससे वह अपना कल्याण

करता है। कहा गया है कि—

तीर्थे तीर्थे निर्मलं वृन्द वृन्दं,
वृन्दे वृन्दे तत्त्वचिन्तानुवादः।
वादे वादे जायते तत्त्वबोधः,
बोधे बोधे भासते चन्द्रचूड़ः॥

अर्थात् तीर्थों में निर्मल हृदय व्यक्तियों का निवास होता है, उन व्यक्तियों में तत्त्वचिन्तानुवाद अर्थात् आध्यात्मिक चर्चा होती है, आध्यात्मिक चर्चा तथा सत्संग से तत्त्वबोध होता है और तत्त्वबोध होने पर भगवत् प्राप्ति अथवा आत्मानुभूति हो जाती है। इस प्रकार तीर्थ हमारे लिये आध्यात्मिक शिक्षा के केन्द्र हैं। महात्माओं के दर्शन हमें तीर्थ स्थानों में प्राप्त होते हैं। बड़े बड़े धार्मिक कृत्य, महायज्ञ आदि तीर्थों में ही हुये हैं और होते हैं इस कारण वहां का वातावरण ही धार्मिक तथा आध्यात्मिक होता है जिससे तीर्थ स्थानों में पहुंचते ही धार्मिक वृत्ति तथा पवित्र शुभ-भावना का उदय होता है।

तीर्थों में तथा गंगा यमुना आदि नदियों में लोग पैसा डालते हैं, प्राचीनकाल से यह प्रथा चली आई है जिसमें यह रहस्य भरा है कि तांबे के पैसे पड़ने से जल में बहुत ही गुण तथा शक्ति उत्पन्न हो जाती है जो कि विलक्षण प्रभाव डालती है। प्राचीनकाल में पैदल यात्रा होती थी और प्रत्येक व्यक्ति पैसा डालता था इस प्रकार न मालूम कितने परिमाण में तांबा इकट्ठा होकर पड़ जाता था और विद्युत् शक्ति उत्पन्न करता था। इस प्रकार तीर्थों के जल की महिमा है तथा उसका प्रभाव वैज्ञानिक रूप से भी पड़ता है।

सत्संग

सत्संग का बड़ा ही महत्व शास्त्रों में वर्णन किया गया है। सत्संग दो प्रकार का है।

(१) बहिरंग सत्संग (२) अन्तरंग सतसंग॥ बहिरंग सत्संग में-सत् पुरुषों का संग, सन्त महात्माओं का संग तथा सत शास्त्रों का संग यह आ जाते हैं। इनके दर्शस्पर्श तथा आचरण आदि को देखकर मनुष्य सद्गुणों को ग्रहण करता है। उसमें दैवी सम्पदा का प्रवेश होता है। उनके द्वारा भगवद् गुणानुवाद श्रवण करके वह भगवत् प्राप्ति के लिये प्रयत्न करता है और फिर सदसद् विचार द्वारा संसार की असारता तथा भगवान को सारता, जान कर धीरे धीरे भगवान् को प्राप्त कर लेता है। भगवान् की कथा, गुण, नाम, कीर्तन तथा उनके रहस्य की बातें सुनने से भजन लालसा बढ़ती है। विषयासक्ति एवं भोग कामना क्षीण होती है, पापों का नाश होता है और फिर तत्त्वज्ञान होकर अज्ञान दूर हो जाता है तथा परम शांति और अक्षय आनन्द की प्राप्ति होती है।

अन्तरंग सत्संग-केवल सद्गुरु कृपा द्वारा ही होता है। परन्तु कारुणिक गुरु जब सत् तत्त्व परमात्मा में शिष्य की स्थिति करा देते हैं तब आन्तरिक सत्संग होता है।

सत्संग का अर्थ ही है-जो सत् हो, सबका रस हो, सबका तत्त्व हो, सबका कारण हो, मुख्य मूल वस्तु हो, उसका संग।

अर्थात् परमतत्त्व परमात्मा का संग होना ही वास्तविक सतसंग है। क्योंकि संसार में परमात्मा ही सार है।

यदि हम विचार करें तो ज्ञात होगा कि संसार के सम्पूर्ण पदार्थ मिट्टी ही हैं, मिट्टी ही से उत्पन्न हुये हैं, मिट्टी में

ही मिल जांयगे। यदि केवल अग्नि तत्त्व का ही इन सब पदार्थों से संसर्ग हो जाय तो ये सब प्रत्यक्ष राख अर्थात् मिट्टी ही के रूप में दिखाई देने लगेंगे। अतः उन सब का कारण पृथ्वी ही है, पृथ्वी का कारण जल है, जल का कारण अग्नि है, अग्नि का कारण वायु है, वायु का आकाश, आकाश का महत्तत्व, महत्तत्त्व का अहं तत्व और अहंतत्व का कारण वही सत्तत्व वाच्य परमात्मा है। वह सर्व कारणों का भी महा-कारण है। अतः इस प्रक्रिया द्वारा यह सिद्ध हुआ कि विराट् ब्रह्म का सत्-सार अथवा अधिष्ठान परमात्मा ही है। इसी प्रकार अपने पिण्ड अर्थात् शरीर में भी अनुसंधान करने से प्रत्यक्-चैतन्याभिन्न आत्मा ही सर्वाधिष्ठान सिद्ध होगा।

इस सर्वाधिष्ठान सर्वसार सत् रूप परमात्मा में स्थित होना ही वास्तविक सतसंग है जिसके बराबर और सुख है ही नहीं। इसी सत् का संग होना ही सच्चा सतसंग हैं।

सन्त महात्मा लोग उस तत्त्व में परिनिष्ठित होते हैं, वे उस मार्ग के पूर्ण अनुभवी तथा ज्ञाता होते हैं। अपितु सत् स्वरूप ही होते हैं। अतः उनके संग से मनुष्य उनके गुणों से, तेज से, प्रतिभा से प्रभावित होकर वैसा ही बन जाता है।

सत्पुरुषों के अथवा सन्त महात्माओं के अभाव में उप-निषद्, गीता रामायण, महाभारत तथा श्रीमद्भागवत आदि सद् ग्रन्थों का अध्ययन करना चाहिये। यह भी सत्संग ही है क्योंकि यह भगवान की दिव्य वाणी तथा सन्तों के आर्ष वाक्य हैं। इनके द्वारा भी भगवद्भक्ति तथा ज्ञान की उत्पत्ति होती है, भगवान् में प्रेम बढ़ता है तथा संसारासक्ति कम होती है। उपनिषद् भगवान् का ज्ञानमय स्वरूप, गीता भगवान का

वाङ्मय दिव्य विग्रह तथा श्रीमद्भागवत दिव्य लीलामय विग्रह है। तथा महाभारत धर्मशास्त्र रूप इतिहास है। अतः अध्ययन के लिये अगले प्रकरण में वैदिक वाङ्मय का संक्षिप्त परिचय दिया जा रहा है।

वैदिक वाङ्मय का संक्षिप्त परिचय

वैसे गायत्री हमारे यहां वेदमाता कही गई है। एक मात्र गायत्री मन्त्र के जप से ही मनुष्य का कल्याण हो सकता है। सम्पूर्ण वेद का तात्पर्य इसमें निहित है। इसका स्वरूप इस प्रकार है:—

ॐ भूर्भुवः स्वः तत् सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि धियो यो नः प्रचोदयात्।

तथापि हमें वैदिक ज्ञान अवश्य प्राप्त करना चाहिये।

वेद अपौरुषेय हैं अर्थात् किसी पुरुष या व्यक्ति के द्वारा यह नहीं बनाये गये हैं। परमात्मा का ज्ञान स्वरूप यह वाङ्मय नित्य है। ऋषियों ने समाधि में विशुद्ध प्रज्ञा द्वारा इसका साक्षात्कार (अनुभव) किया। और तब से विद्वानों एवं पण्डितों ने इसकी अक्षुण्य परम्परा बनाये रक्खी। उसके शब्द, वाक्य, मन्त्र ऋषि, देवता और विनियोग जैसे थे उसी प्रकार वैसे के वैसे ही आज तक चले आ रहे हैं। वैदिक ज्ञान शंका, सन्देह, भ्रम तथा करणापाटवादि दोष रहित परम शुद्ध है। वेद स्वतः प्रमाण हैं। अन्य ग्रन्थ वेदानुकूल होने से ही प्रमाणित माने जाते हैं।

वेदों के चार विभाग हुये। ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, और अथर्ववेद। इनके सबकी शाखायें अलग अलग हैं और उसके अनुसार उनके उपनिषद् भी हैं। वैदिक साहित्य बहुत ही

विशाल है। साहित्याचार्य पं० महेन्द्र मिश्र 'मग' द्वारा लिखित तत्सम्बन्धी एक अंश जानकारी के लिये नीचे दिया जा रहा है।

वेदभक्तों को कम से कम इतनी बातें तो अवश्य ही कण्ठस्थ कर लेनी चाहिये।

कण्ठस्थ करने योग्य आवश्यक बातें

(१) ऋग्वेद में ८ अष्टक, १० मण्डल, ६४ अध्याय, ८५ अनुवाक १०२८ (मतान्तर में १०१७) सूक्त, २०२४ वर्ग, १०५८९ (किसी मत में १०५८० और १०४६७) मन्त्र, १५३८२६ शब्द और ४३२००० अक्षर हैं।

(२) शुक्ल यजुर्वेद में ४० अध्याय, ३०३ अनुवाक, १९७६ (मतान्तर में १९७५) मन्त्र, ८८८७५ अक्षर और शब्द संख्या २९६२५ है।

कृष्ण यजुर्वेद में ७ अष्टक या काण्ड, ४४ प्रश्न या प्रपाठक, ६५१ अनुवाक, २१९८ मन्त्र और ११०२९६ अक्षर हैं।

सामवेद में २९ अध्याय, ६ आर्चिक, ८९ साम और १८९३, राणायनीय के अनुसार १५४९ मन्त्र है।

(४) अथर्ववेद में २० काण्ड, ३४ प्रपाठक, १११ अनुवाक, ७३३ वर्ग, ७६० सूक्त, ५८४७ मन्त्र और १२३८० शब्द हैं।

ऋग्वेद का उपवेद आयुर्वेद है, शाखा २१ और उपनिषदें भी २१ हैं। यह ज्ञानकाण्ड प्रधान है। इसके प्रधान आविष्कर्त्ता अग्नि ऋषि हैं।

यजुर्वेद का उपवेद धनुर्वेद, शाखायें १०१ और उपनिषदें १०९ हैं। यह कर्मकाण्ड प्रधान है। इसके प्रधान आविष्कर्त्ता वायु ऋषि हैं।

सामवेद का उपवेद गन्धर्व वेद, शाखायें १००० और उपनिषदें भी १००० हैं। चरण व्यूह के मत से इसकी ७ शाखायें हैं। इसके प्रधान आविष्कर्त्ता आदित्य ऋषि हैं।

अथर्ववेद का उपवेद अर्थवेद या स्थापत्यवेद, शाखायें ९ उपनिषदें ५० हैं। यह विज्ञान काण्ड प्रधान है। इसके प्रधान आविष्कर्त्ता आंगिरस अथर्वा ऋषि हैं।

यह संक्षेप में वेदों का आवश्यक परिचय उन्होंने दिया है। उपनिषदों का संक्षिप्त परिचय इस प्रकार है।

ऋग्वेदादि के विभाग से चार वेद कहे गये हैं, उनकी अनेक शाखायें हैं और उसी प्रकार उपनिषदें हैं। ऋग्वेद की शाखा २१ हैं, यजुर्वेद की १०९ साम की १००० तथा अथर्व की ५० कही गयी हैं। एक एक शाखा की एक एक उपनिषद् है। इस प्रकार ११८० उपनिषदें हैं।

'ऋग्वेदादि विभागेन वेदाश्चत्वार ईरिताः।
तेषां शाखाह्यनेकाः स्युस्तासूपनिषदस्तथा ॥
ऋग्वेदस्य तु शाखाः स्युरेकविंशति संख्यकाः।
नवाधिकशतं शाखा यजुषो मारुतात्मज ॥
सहस्र संख्यया जाताः शाखा साम्नः परन्तप ।
अथर्वणस्य शाखाः स्युः पन्चाशद्‌भेदतोहरे ॥
एकैकस्यातु शाखाया एकैकोपनिषन्मता ।
(मुक्तिकोपनिषद् ११-१४)।

इसकी एक ऋचा भी जो भक्ति पूर्वक पढ़ता है वह मुनि-दुर्लभ मेरी सायुज्य पदवी को प्राप्त होता है। मुमुक्षु की मुक्ति

के लिए एक माण्डूक्य उपनिषद् ही पर्याप्त है। (माण्डूक्यमेक मेवालं मुमुक्षूणां विमुक्तये २६)। अगर इसमें सिद्धि न हो तो दश उपनिषदें पढ़ो। ईश, केन, कठ, प्रश्न, मुण्डक, माण्डूक्य, तैत्तिरीय, ऐतरेय, छान्दोग्य तथा बृहदारण्यक यह दश हैं (मुक्तिको० ३०)। अगर इसमें दृढ़ता न हो तो ३२ उपनिषदें देखे। यदि विदेह मुक्ति की इच्छा हो तो १०८ उपनिषदें पढ़ो। समस्त उपनिषदों के बीच में १०८ उपनिषदें सार हैं—

'सर्वोपनिषदां मध्ये सारमष्टोत्तरं शतम्' (मुक्तिको० ४४)

इस प्रकार मुक्तिकोपनिषद् में इसका वर्णन आया है। उपनिषदों में ज्ञान काण्ड मुख्य है। अध्यात्मविद्या का वर्णन उपनिषदों में ही है। इन्हीं समस्त उपनिषदों का सार रूप ग्रन्थ श्रीमद्भगवद्गीता है। उपनिषद् ही इसका मूल स्रोत है। प्रस्थान त्रयी में ब्रह्मसूत्र तथा उपनिषद् और श्रीमद्भगवद् गीता कही गयी हैं। आचार्यों ने अपने सिद्धान्त की पुष्टि तथा प्रतिपादन के लिये इन्हीं तीनों को प्रमाणस्वरूप मानकर सहारा लिया है। हमें इसके श्रवण मनन और निदिध्यासन द्वारा अपना कल्याण करना चाहिये।

इसी प्रकार वेदों के छः अंग कहे गये हैं। शिक्षा, कल्प, व्याकरण छन्द, निरुक्त और ज्योतिष-यही छः वेदांग है। दर्शन भी छः हैं—मीमांसा, न्याय, योग, सांख्य, वैशेषिक और वेदान्त दर्शन। इसमें मीमांसा के रचयिता महर्षि जैमिन, न्याय के गौतम, योग के पतञ्जलि, सांख्य के कपिल, वैशेषिक के कणाद और वेदान्त दर्शन के श्री वेदव्यास जी हैं।

वेदों के ब्राह्मण भाग भी गोपथ, शतपथ आदि नामों से और सूत्र आश्वलायन तथा आपस्तम्ब आदि नामों से प्रसिद्ध

हैं। पुराणों की संख्या १८ है—ब्रह्म, पद्म, विष्णु, शिव, लिंग, गरुड़, नारद, भागवत, अग्नि, स्कन्द, भविष्य, ब्रह्मवैवर्त्त, मार्कण्डेय, बामन, वाराह, मत्स्य, कूर्म और ब्रह्माण्ड इत्यादि इनके नाम हैं। (श्री मद्भागवत १२।७।२३-२४) इसी प्रकार उपपुराण भी १८ हैं। स्मृतियां भी अनेक हैं जिसमें अष्टादश (अठारह, किसी किसी के मत में बीस) स्मृतियां अधिक प्रचलित और प्रसिद्ध हैं। स्मृतियों के नाम इस प्रकार हैं। मनु, याज्ञवल्क्य, अत्रि, विष्णु, हारीत, उशना, अंगिरा, यम, आपस्तम्ब, संवर्त, कात्यायन, बृहस्पति, पाराशर, व्यास, शंख, लिखित, दक्ष, गौतम, शातातप तथा वशिष्ठ। इसमें मनुस्मृति प्रधान स्मृति है तथा कलि में मनु और पाराशर स्मृति की प्रधानता कही जाती है।

महाभारत और वाल्मीकिरामायण की गणना इतिहास में आती है।

इस प्रकार हमारे विशाल वैदिक वाङ्मय का यह एक संक्षिप्त परिचय है जिसके अध्ययन द्वारा हम अपनी संस्कृति तथा इतिहास का ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं। और इस प्रकार चरित्रनिर्माण, राष्ट्रोन्नति तथा धर्मपालन के द्वारा लौकिक अभ्युदय तथा आध्यात्मिक ज्ञान के द्वारा दुःख की आत्यन्तिक निवृत्तिपूर्वक परमनिःश्रेयस अर्थात् मोक्ष की प्राप्ति कर सकते हैं।

ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः

सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामयाः।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चित् दुःख भाग्भवेत् ॥

सिद्धान्त-सूत्र-पदावली

ज्ञान

ग्रन्थ पढ़े बहु पन्थ लखे, हृदै पंकज की न कली खिल पाई।
कीर्तन गान ते मोह निशा मिटि, नींव प्रपंच नहीं हिल पाई।
तीर्थ भ्रमे हू न भ्रान्ति भगी, जग जाल की गांठ नहीं झिल पाई।
आतम ज्ञान गुरू की कृपा बिनु 'श्याम' न शान्ति कहूँ मिल पाई॥

(२)

आतम ज्ञान भयो जब ते, तब ते भ्रम संशय भागि गयो है।
एक अपार अनादि अनन्त चिदानंद में चित लागि गयो है।
वृत्ति बहिर्मुख भंग भई, मन अन्तरभाव में जागि गयो है।
'श्याम' चल्यो बहि आनंद स्रोत सुधारस में अनुरागि गयो है॥

(३)

द्वैत कपाट हू टूटि गये, जब अद्वय तत्त्व को ज्ञान भयो है।
चेतन औ जड़ ग्रन्थि खुली, उर अन्तरज्योति में ध्यान गयो है।
सार असार को भेद लख्यो, शिव सुन्दर सत्य को भान भयो है।
'श्याम गुरू की अपार कृपा--वश आतम--सुधारस पान भयो है॥

(४)

सब ज्योतियों की वह ज्योति प्रकाशक, इन्द्रिय प्रेरक 'श्याम' वही।
सब सृष्टि नियन्त्रण में उसके, वही निर्गुण है गुण धाम वही।
भरी प्राण में चेतना है उसकी, मन बुद्धि का है विश्राम वही।
वही आतम औ परमातम है, जड़ चेतन में रमा राम वही॥

वैराग्य

यह मानव जीवन पा करके, विषयी जन जन्म गंवाय गये।
छल मिथ्या प्रपंचनि में पड़िकै, कोई केवल पाप कमाय गये।
धन धाम धरा पै धरा ही, रहा, धनवान धरा में समाय गये।
जिस भक्ति सुधारस 'श्याम' पियो, वही जीवन धन्य बनाय गये॥

(२)

जिस बुद्धि से निर्मल ज्ञान मिलै, उससे जग को भरमाया तो क्या।
उर 'श्याम' की श्यामल मूर्ति नहीं, यदि सारा प्रपंच समाया तोक्या।
जिस साधना से भगवान मिलै, उससे धन धाम कमाया तो क्या।
परमार्थ की हाट में स्वारथ लै, यह जीवन हीरा गंवाया तो क्या॥

(३)

जिसने यह सुन्दर रूप दिया, धन वैभव में नित फूल रहा।
सब सृष्टि है शासन में जिसके, न विधान कोई प्रतिकूल रहा।
भरी प्राण में चेतना है उसकी, जिसके बिना जीवन धूल रहा।
अभिमान महान में आ करके, अरे मानव ! तू उसे भूल रहा॥

(४)

हृदय भक्ति के भाव से कैसे भरै जो सुहाता तुम्हें हरिनाम नहीं।
सन्यास और ज्ञान टिके किस भांति जो चित्त हुआ उपराम नहीं।
उदय मानस में न विराग हुआ अरु वृत्ति हुई निष्काम नहीं।
फिर आनंद शान्ति कहां से मिले जब आतम ज्ञान है 'श्याम' नहीं॥

वेदान्त

जल के बिच मीन पियासी रहे चहुं ओर भरा जल ज्ञान नहीं।
जब लौं उलटैगी नहीं उसमें तब लौं जल बिन्दु का पान नहीं।
तिमि ब्रह्म है व्यापक विश्व में 'श्याम' पै आनन्द सिन्धु का भान नहीं।
अरे मानव! अन्तरलक्ष्य बना क्यों करे अपना कल्याण नहीं॥

(२)

हुआ जीवनमुक्त जो जीवन में उस पै किसी का प्रतिबन्ध नहीं।
निष्काम है प्रेम वहां टिकता जहां स्वारथ की कछु गन्ध नहीं।
मन ज्ञान विराग में डूब गया तो रहा जग से सम्बन्ध नहीं।
अपरोक्ष जो ब्रह्म का ज्ञान हुआ तब साधना का अनुबन्ध नहीं॥

(३)

बनी सृष्टि है पांचहु तत्त्वन ते, जिनके विषै व्यापक विश्व में जानो।
इन्द्रियां हैं विषयों से परे अरु इन्द्रिन ते मन को परे मानो।
बुद्धि रहे मन हू ते परे, अरु बुद्धि ते आतम श्रेष्ठ बखानो।
आतम ते परमातम 'श्याम' सदा उर अन्तर में पहिचानो॥

(४)

जग में व्यवहार निभाना सखे, बस है तलवार की धार यहां।
परमारथ को रखि कै निज दृष्टि में 'श्याम' करो व्यवहार यहां।
तजि मान गुमान मिलो सबसे, रहना सबको दिन चार यहां।
संसार में सार नहीं कुछ है, बस प्रेम ही है एक सार यहां॥

सिद्धान्त

आतम को तुम जानो रथी, औ शरीरहि को सुन्दर मानो।
बुद्धि बनी शुभ सारथी है मन ही को लगाम समान बखानो।
इन्द्रिय घोड़े जुते जिसमें जिनको प्रिय पंथ विषय निज जानो।
पै यदि 'श्याम' संभारि चलौ तो मिलै हरि आनंद धाम ठिकानो॥

(२)

यह आतम तत्त्व विलक्षण है मन बुद्धि से जो अवगाह्य नहीं।
जल से न तो भीजत सूखे न वायु से अग्नि से भी वह दाह्य नहीं।
भरी विश्व में चेतना है उसकी किसी इन्द्रिय से वह ग्राह्य नहीं।
सर्वत्र है व्यापक 'श्याम' वही उस तत्त्व में अन्तर बाह्य नहीं॥

(३)

घट में जिमि मृत्तिका व्यापक है पट को जिमि सूत है ढांप रहा।
घृत दूध में औ तिल में जिमि तेल है पावक में जिमि ताप रहा॥
गुड़ में ज्यों मिठास भरी हुई है औ तरंगन में जल आप रहा।
जिमि स्वर्ण है भूषण में तिमि 'श्याम' ये ब्रह्म सभी ढिग व्याप रहा॥

(४)

अणु से अणु है वह सूक्ष्म तथा उससे बड़ा कोई महान नहीं।
उर की गुहा में सबकी रहता अपरोक्ष है लेकिन ज्ञान नहीं।
उस चेतन शुद्ध निरंजन का किसी वृत्ति से संभव ध्यान नहीं।
है प्रमाता प्रमेय प्रमाण कहां! उपमान में 'श्याम' समान नहीं॥

अध्यात्मवाद

यह भारत सर्व शिरोमणि है, जग में सदा 'श्याम' महान रहा।
फला कोरा न भौतिक यहां, अध्यात्म लिये विज्ञान रहा।
आदर्श औ सभ्यता संस्कृति का, यह केन्द्र भी आदि प्रधान रहा।
बंधा प्रेम औ भक्ति के बन्धन में, यहां आता सदा भगवान रहा॥

(२)

न तो कर्म की श्रृंखला टूटी कभी, न तो ज्ञान औ भक्ति की धारा रुकी।
हुआ खण्डन तर्क वितर्क सदा, पर धर्म की ऊंची ध्वजा न झुकी।
दया दृष्टि से पापी अनेक तरे, प्रभु की न कृपामयी पूंजी चुकी।
जिन नाम का 'श्याम' अधार लियो, उनकी महापाप की राशि फुंकी॥

(३)

जग भौतिक है ये प्रपंच भरा, जिसमें तम तामस छाय रहा।
रुचि धर्म स्वकर्म में आज नहीं, हर बात में तर्क समाय रहा॥
हृदय 'श्याम' है प्रेम से शून्य हुआ, सुख शान्ति नहीं दुख पाय रहा।
भगवान की भक्ति औ ज्ञान बिना, यह जीवन व्यर्थ ही जाय रहा॥

(४)

शुभ अवसर है ये मिला तुम को, करो साधना में न प्रमाद यहां।
धनधाम को साथ में 'श्याम' कभी, कहीं ले गया कोई न लाद यहां॥
अध्यात्मिक ज्ञान से प्रेम करो, सुखदाई न भौतिकवाद यहां।
नर देह मिली अनमोल इसे, मत व्यर्थ करो बरबाद यहां॥

सिद्धान्त का सार

बिना ज्ञान के मुक्ति नहीं मिलती, यदि ज्ञान न हो तब ध्यान करो।
मन निर्गुण ध्यान में जो न टिकै, तो उसे सगुणात्मक मान करो।
जो उपासना भी यह 'श्याम' न हो, निष्काम का कर्म विधान करो।
अथवा शुभ कर्म सकाम करो, या मरो जनमो प्रस्थान करो॥

(२)

यदि सार हो पूछते साधन का, भगवान में चित्त को लय कर दो।
ज्ञानाग्नि में संचित कर्म जला, प्रारब्ध को भोग से क्षय कर दो।
क्रियमाण में 'श्याम' असक्त न हो, निष्काम हो वृत्ति अभय कर दो।
गुरुदेव के आश्रय में रहिकै, निज जीवन मंगलमय कर दो॥

(३)

विषयों से हटाय के इन्द्रिन को, मन में फिर इन्द्रियां लीन करो।
मन को फिर बुद्धि में लय करके, वह बुद्धि भी वृत्ति विहीन करो।
यदि अन्तर दृष्टि का भाव उठे, बनि दृष्टा उसे भी अधीन करो।
फिर 'श्याम' स्वरूप में स्थित हो, बनि साक्षी रहो कुछ भी न करो॥

(४)

पृथ्वी जल अग्नि औ वायु अकाश, ये तत्त्व हैं पांच इन्हें तुम जानो।
अन्न मनोमय प्राण तथा विज्ञानमय आनन्द कोष बखानो।
बुद्धि तथा मन चित्त अहं, यह अन्तःकर्ण चतुष्टय मानो।
स्थूल औ सूक्ष्म कारण देह परे निज आतम को पहिचानो॥

तू और नहीं मैं और नहीं

तू ब्रह्म है मैं हूँ जीव बना, चिद्-जड़ ग्रन्थी पड़ जाने से।
है थोड़ा सा परदा बीच पड़ा, तू और नहीं मैं और नहीं॥

तू ईश्वर है मैं अंश तेरा, जो तुझ में गुण वह मुझ में हैं।
लघु और महान का भेद है बस, तू और नहीं मैं और नहीं॥

तू मायापति, मैं मायावश, माया की उपाधी दोनों तरफ।
यदि इसको हटा कर के देखो, तू और नहीं मैं और नहीं॥

तू स्वामी है मैं सेवक हूं, यह ठीक उपासक की दृष्टी।
पर ज्ञान का अंजन लगते ही, तू और नहीं मैं और नहीं॥

योगी के लिए तू ईश्वर है, भक्तों के लिए भगवान है तू।
ज्ञानी भी तुझी से कहता है, तू और नहीं मैं और नहीं॥

शिव रूप तू ही गुरु रूप तू ही, है आद्या शक्ती कुण्डलिनी।
जब दोनों का संयोग हुआ, तू और नहीं मैं और नहीं॥

है भिन्न भिन्न सबकी दृष्टी, पर 'श्याम' है मानस की सृष्टी।
संकल्प हटा तब भेद मिटा, तू और नहीं मैं और नहीं॥

मुसलिम के लिए है तू ही खुदा, नास्तिक के लिए है तू ही जुदा।
जब नुक्ता हटा तब भेद मिटा, तू और नहीं मैं और नहीं॥

है तत्त्व की दृष्टि से भेद नहीं, व्यवहार की दृष्टि से भेद भी है।
परमार्थ की दृष्टि से देखो तो, तू और नहीं मैं और नहीं॥

निर्गुण और सगुण

निर्गुण तो है पिता हमारा, और सगुण महतारी है।
काको निन्दौं काको बन्दौं, दोनों पलरा भारी है॥

सगुण बिना निर्गुण की महिमा प्रगट नहीं हो सकती है।
निर्गुण बिना सगुण की सत्ता, कभी नहीं टिक सकती है॥
एक दूसरे के आश्रय से, सृष्टि सकल बिस्तारी है॥१॥

सगुण न होता तो निर्गुण की शक्ति यहां दिखलाता कौन।
और न होता निर्गुण तो फिर होता जीवनदाता कौन?
निर्गुण विद्युत् शक्ति सगुण की, जग मशीनरी सारी है॥२॥

जो कुछ देख रहे दुनियां में, सभी सगुण की माया है।
पर आधार-शिला निर्गुण है, माया उसकी छाया है॥
गुरु की कृपा-नाव-बल से, भवसिन्धु तरन की बारी है॥३॥

निर्गुण और सगुण दोनों की, महिमा वैसे न्यारी है।
(पर) सगुण सहारे से ही निर्गुण ब्रह्म बना अवतारी है॥
दोनों पर ही 'श्याम' मुग्ध है, दोनों पर बलिहारी है॥४॥

छोटा बड़ा न कोई, इस झगड़े में पड़ना ठीक नहीं।
माया, जीव, ब्रह्म के प्रश्नों में पड़ लड़ना ठीक नहीं॥
खोज खोज कर इस रहस्य को, सारी दुनिया हारी है।
काको निन्दौं काको बन्दौं दोनों पलरा भारी हैं॥५॥

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदम्

वह पूरण है यह पूरण है, पूरण से पूर्ण निकलता है ।
पूरण का पूरण लेकर के, बस शेष भी पूरण रहता है ॥

उठती हैं जगत के सागर में, संशय व विपर्यय की लहरें ।
सद्गुरु के सहारे कोई बचा, संसार तो उसमें बहता है ॥

प्रारब्ध की वायू चलती है, सुख दुःख के हैं झोंके लगते ।
अज्ञानी विकल हो रोता है, पर ज्ञान से ज्ञानी सहता है ॥

मल औ विक्षेप निवारण को, है कर्म उपासन का साधन ।
जब ज्ञान से आतम स्थिति हो, तब कुछ न किसी से कहता है ॥

कूटस्थ व साक्षी है वह ही, वह ही दृष्टा संसारी है ।
आधार है चेतन एक वहां, जो चार तरह से रहता है ॥

तू तत्त्व है वो जिससे रहते, मन प्राण शरीर सभी चेतन ।
निज रूप के अनुभव ज्ञान बिना, तू शोक अनल में दहता है ॥

अनुभव दृढ़ हो अपरोक्ष जिसे, वह ज्ञानी भी मिलना है दुर्लभ ।
यह 'श्याम' रहस्य है गूढ़ इसे, कोई भाग्य से बिरला गहता है ॥

९. सुख-शान्ति के उपाय :
स्वामी नारदानन्द सरस्वतीजी के उपदेशों का संकलन २-००
१०. सुखमय जीवन के प्रेरणा-सूत्र : ०-२५
११. सनातन धर्म का वैज्ञानिक रहस्य :
लेखक बाबूलाल गुप्त 'श्याम' ३-५०
१२. कमला : (बंगभाषा से अनुवादित सामाजिक उपन्यास)
अनुवादक पं० रूपनारायण पाण्डेय ४-५०
१३. अभिलाषा : (मौलिक सामाजिक उपन्यास)
ले० श्री कपिलदेव श्रीवास्तव बी. ए. एल-एल. बी. ४-५०
१४. रस सिद्धान्त और कहानी कला : (साहित्यिक निबन्ध)
लेखक श्री दुर्गाशंकर मिश्र २-२५
१५. पुराण तत्त्व मीमांसा : ले० श्री कृष्णमणि त्रिपाठी १०-००
१६. साहित्य चिंतन : (आलोचनात्मक निबन्ध)
ले० श्री गिरिजामोहन गौड़ 'कमलेश' ५-५०
१७. फेरि मिलबो : (ब्रजभाषा चन्दू काव्य)
लेखक कविवर श्री अनूप शर्मा एम. ए. एल. टी. ३-५०
१८. दो एकांकी : (राम-सुग्रीव और कृष्ण-सुदामा)
लेखक पं० कालिकाप्रसाद त्रिपाठी ०-५०
१९. बाल साहित्य की कहानियाँ : ले० रमेश वाजपेयी ०-५०
२०. गुरूजी की छड़ी : ,, ,, ,, ०-५०
२१. बाल पद्यावली (बालोपयोगी कविताएँ)
लेखक आशुकवि पं० विमलेश शास्त्री ०-७५

२२. बापू की ईश्वर-प्रार्थना : गांधीजी का दैनिक प्रार्थना-
संग्रह, हिन्दी व्याख्या सहित ०-२०

२३. गांधी गौरव : (कविता में गांधीजी की शिक्षा और
नेतृत्व की झलक) लेखक रामदास मिश्र 'विजय' ०-२५

२४. अपना कौन : (मौलिक सामाजिक उपन्यास)
लेखक सच्चिदानन्द पाण्डेय ३-००

२५. भैया केंचुल बदल : (हास्य-व्यंग्य)
लेखक उमादत्त सारस्वत २-७५

२६. जब सन्तानें जाग उठीं : लेखक वीरेन्द्र पाण्डेय ७-५०

•

हिन्दी की पुस्तकों

का

प्राप्ति-स्थान

हिन्दी-प्रचारक-मण्डल

श्रीराम मार्ग, अमीनाबाद, लखनऊ

•